श्रीहित-रस-रीति

(सप्तम् प्रकरण)

पूर्व परिचय-

छठे प्रकरण में ग्रन्थकार ने - **''सुनहु रसिक रस रीति गति''** कहकर इस प्रकरण के विषय का सङ्केत किया है। भाव यह कि यों तो सम्पूर्ण ग्रन्थ ही रसोपासना के सिद्धान्त का पोषक और प्रकाशक है किन्तु इस प्रकरण में विशेष रीति से रस विलास की ओर सङ्केत किया जायेगा ऐसा ग्रन्थकार का लक्ष्य प्रतीत होता है।

अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार श्रीसेवकजी सर्वप्रथम रस के प्रकाशक का वर्णन प्रथम छन्द में करके दूसरे में रस प्रवाहमयी यमुना का वर्णन करते हैं जिसके निकट (साक्षित्व में) यह रस-लीला होती है। चौथे छन्द में रस भूमि अधिष्ठान श्रीवृन्दावन का वर्णन करके क्रमश पाँचवें और छठें में श्रीराधा और श्रीकृष्ण के किशोर रसिक स्वरूप का वर्णन करते हैं। सातवें छन्द में श्रीवन की बाह्य केलि रासादि का वर्णन करके आठवें में रति-विहार विषयक हास-परिहास का वर्णन करते हैं और अन्तिम नवम छन्द में श्रीहित-हरिवंश के इष्ट तत्व तल्प-विहार का वर्णन कर देते हैं।

इस वर्णन क्रम का सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर पता चलेगा कि विहार-रस वर्णन का उद्गम और पर्यवसान किस सुन्दर क्रम से हुआ है कि अवतार-क्रम से लेकर नित्य-विहार तक स्थूल से सूक्ष्म तक एक लड़ी बँध गयी है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में केवल इसी प्रकरण के छठे छन्द में **'वृषभान नन्दिनी'** पद देकर आप व्रज रस या अवतार लीला से नित्य विहार तक की एक शृङ्खला स्थापित कर देते हैं।

(१)

अब प्रथम छन्द में रस रीति प्रकाशक रसिकाचार्य श्रीहित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु पाद के तात्विक स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं-

मूल–

व्यास नंदन जगत आधार।
जगमगात जस, सब जग बंदनीय, जगभय विहंडन।
जग सोभा, जग संपदा, जग जीवन, सब जग मंडन॥
जग मंगल, जग-उद्धरन, जग निधि, जगत प्रसंस।
चरन शरन सेवक सदा, सु जै जै श्रीहरिवंश॥१॥

भावार्थ–

व्यास नन्दन श्रीहरिवंशचन्द्र ही समस्त जगत् के आधार हैं, जिनका यश सारे विश्व में जगमगा रहा है। जो समस्त जगत् के वन्दनीय हैं, जो संसार के भयों को नष्ट कर देने वाले हैं, जो विश्व की शोभा, विश्व की एकमात्र सम्पत्ति, विश्व के जीवन और विश्व-भूषण हैं। ये जगत् का मंगल करने वाले, जगत का उद्धार करने वाले, विश्व की निधि और संसार से प्रशंसनीय हैं। 'सेवक' सदा-सदा इन्हीं की चरण-शरण में है, इन श्रीहरिवंशचन्द्र की जय-जय हो।

टिप्पणी–

सेवकजी ने कहा कि "**व्यासनंदन जगत आधार**" हैं और विश्व के लिये वन्दनीय, रक्षक, शोभा, सम्पदा, जीवन, भूषण, मंगल, उद्धारक, निधि आदि सब कुछ हैं। इस कथन में श्रीहरिवंश के व्यापक तात्विक रूप का ही प्रकाश किया गया है।

उपासक को यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यासनन्दन श्रीहरिवंश साक्षात् प्रेम हैं। वह प्रेम जो व्यापक भी है और एकदेशीय भी। जो मूर्त्त

है और अमूर्त भी है। जिसकी उपासना सभी लोग जाने-अनजाने प्रत्येक दशा में कर रहे हैं। यह भी सत्य है कि यदि विश्व में यह प्रेम न होता तो यह विश्व नरक से भी ज्यादा वीभत्स बन गया होता। प्रेम ने ही इस नरक रूप जगत् को बैकुण्ठ सा बना रखा है।

यहाँ पर व्यासनन्दन का अर्थ 'प्रेम' ऐसा करके ही उन्हें सबका आधार, जीवन, भूषण, मंगल आदि कहा गया है और है भी यही बात सत्य कि प्रेम ही इस विश्व का सार एवं सर्वोपरि तत्व है।

(२)

इस दूसरे छन्द में क्रीड़ा स्थली श्रीवन में स्थित श्रीयमुना जी का स्वरूप और उनके तटवर्त्ती लता-कुञ्जों का वर्णन करते हैं क्योंकि ये लतागृह ही रस-क्रीड़ा के केन्द्र हैं-

मूल-

जयति जमुना विमल वर वारि।
सीतल तरल तरंगिनी, रत्न बद्ध विवि तटी विराजत।
प्रफुलित बिबिध सरोजगन, चक्रवादि कल हंस राजत।।
कूल बिसद वन द्रुम सघन, लता भवन अति रम्य।
नित्य केलि हरिवंश हितसु ब्रह्मादिकनि अगम्य।।२।।

भावार्थ-

निर्मल और श्रेष्ठ जल से युक्त श्रीयमुना जय-जयकार को प्राप्त हैं जो शीतल और चञ्चल तरङ्गों से पूर्ण हैं और जिनके दोनों तट रत्नादिकों से सुबद्ध सुशोभित हैं। जल में जहाँ अनेकों प्रकार के कमल खिल रहे हैं एवं चक्रवाक आदि पक्षियों और सुन्दर हंसों के समूह के समूह शोभित हैं। परम पावन पुलिन पर शोभित श्रीवन सघन द्रुमों से पूर्ण है एवं जहाँ पर अत्यन्त रमणीय लता-भवन विराज रहे हैं। यमुना

के इसी तट पर श्रीहित हरिवंशचन्द्र की नित्य केलि होती रहती है जो ब्रह्मा आदि के लिये अगम्य है।

(३)

श्रीहित हरिवंशचन्द्र की प्रकाशित की हुई रस क्रीड़ा में युगल-किशोर का स्वरूप-

मूल- सुघर सुंदर सुमति सर्वज्ञ।

संतत सहज सदा सदन, सघन कुंज सुख पुंज बरषत।
सौरभ सरस सुमन चैंन सजित सैंन सचु रंग हरषत।।
केलि बिसद आनंद रसद, बेलि बढ़त नित जाम।
ठेलि निगम-मग पग सुभग, खेलि कुँवर वर बाम।।

भावार्थ-

श्री प्रियालाल की यह जोड़ी नित्य और स्वाभाविक होने के साथ-साथ सुघर, सुन्दर, परम चतुर एवं सर्वज्ञ भी है। सदा-सर्वदा सघन कुञ्ज-सदन में सुख समूह की वर्षा करती रहती है। [उस सघन कुंज सदन में] सरस सुगन्ध युक्त कोमल पुष्पों से सज्जित शय्या पर विराजमान् होकर युगल-किशोर आनन्द-सुख प्राप्त करके हर्षित होते हैं। युगल-किशोर की केलि पवित्र एवं रसदायक है और जहाँ आनन्द रूपी लता नित्य ही उदित होती और बढ़ती रहती है। जहाँ युवती-शिरोमणि सुन्दरी श्रीराधा एवं कुँवर वर श्रीलालजी वेद-मार्ग की मर्यादा को चरणोंसे ठेल अर्थात् तिरस्कृत कर निरन्तर क्रीड़ा परायण रहते हैं।

टिप्पणी-

''ठेलि निगम मग पग सुभग
खेलि कुँवर वर बाम''

वेद-पथ को चरणों से ठेलने का अर्थ है वेद मर्यादाओं की उपेक्षा। भाव यह कि युगल-किशोर का दिव्य विहार नित्य एवं वेदों से परे है। यह वेद-विलक्षण क्रीड़ा है, जो सर्व तन्त्र स्वतन्त्र है। इस विहार में वेदों की मर्यादाओं का बन्धन तो होगा ही क्यों? वेदों की तो वहाँ तक पहुँच ही नहीं है; यथा-

अलक्ष्यं राधाख्यं निखिल निगमैः

—श्रीराधासुधानिधि

अर्थात् ''श्रीराधा समस्त वेदों से अलक्षित तत्व है।''

(४)

इस छन्द में युगल-किशोर की रस-रूपता का निर्देश किया जा रहा है-

मूल—

रसिक रमनी रसद रस रासि।
रस-सीवाँ, रस-सागरी, रस निकुंज, रसपुंज बरषत।
रसनिधि, सुविधि रसज्ञ, रस रेख रीति-रस, प्रीति हरषत॥
रस मूरति, सूरति सरस, रस बिलसनि रस रंग।
रस प्रवाह सरिता सरस, रति-रस लहरि तरंग॥४॥

भावार्थ—

रसिक श्रीलालजी एवं रमणी श्रीराधा दोनों ही रस के दाता और रस की राशि हैं। प्रियतम रस की सीमा और प्रियाजी रस की समुद्र रूपा हैं दोनों रसमय निकुंज भवन में रस समूह की वृष्टि करते रहते हैं। दोनों रस के भण्डार और भली प्रकार रसज्ञ हैं। दोनों रस की मर्यादा रेखा हैं, और रस रीति की प्रीति से ही प्रसन्न रहते हैं। युगल-किशोर

रस की मूर्त्ति हैं जिनकी छवि बड़ी ही सरस है। आपका सुख विलास भी रसमय है और आनन्द क्रीड़ा भी रसमय। युगल-किशोर रस-धारामय रस सरिता भी हैं और उसमें उठने वाली रति रस की लहरें-तरङ्गें भी ये ही हैं।

(५)

इस छन्द में श्रीलाल जी के स्वरूप का वर्णन करते हैं-

मूल-

स्याम सुंदर उरसि बनमाल।
उरगभोग भुजदंड वर, कंबु कंठ मनिगन बिराजत।
कुंचितकच, मुख तामरस, मधु लंपट जनु मधुप राजत॥
सीस मुकुट, कुंडल श्रवन, मुरली अधर त्रिभंग।
कनक कपिस पट सोभिअत, (अति)जनु घन दामिनि संग॥

भावार्थ-

श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के हृदय देश पर बनमाला शोभित है। श्रेष्ठ भुज-दण्ड उरग-भोगी मयूर के श्यामवर्ण के समान हैं और शंख सी ग्रीवा में मणि-समूहों की मालाएँ शोभित हैं। कमल से मुख के चारों ओर घुँघराली लटें इस प्रकार फबी हैं जैसे मधु के लोभी भ्रमर कमल का रस पान करने के लिये जुटे हों। आपके सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल और अधरों पर मुरली है। आप ललित त्रिभङ्गी गतिसे खड़े हैं। श्यामघन से दिव्य वपु पर पीले-पीले रेशमी वस्त्र ऐसे शोभा पा रहे हैं जैसे मेघों के साथ दामिनि।

(६)

पाँचवें छन्द में विशुद्ध रूप से रसमूर्त्ति श्रीलालजी का वर्णन करके अब श्रीप्रियाजी का वर्णन करते हैं-

मूल–

सुभग सुंदरी सहज सिंगार।
सहज सोभा सर्वांग प्रति, सहज रूप वृषभानु नंदिनी।
सहजानंद कदंबिनी, सहज विपिन वर उदित चंदिनी॥
सहज केलि नित नित नवल, सहज रंग सुख चैन।
सहज माधुरी अंग प्रति, सु मोपै कहत बनै न॥६॥

भावार्थ–

परम सुन्दरों में भी सुन्दर, स्वाभाविक शृङ्गार, स्वाभाविक शोभा एवं सर्वांग प्रति सहज रूप लावण्यमयी श्रीवृषभान नंदिनी ही हैं। आप सहज (स्वाभाविक) आनन्द की समूह एवं विपिनराज श्रीवृन्दावन में नित्य उदित स्वाभाविक चन्द्रिका हैं–अनन्त ज्योति हैं। आपकी केलि (क्रीड़ा विलासादि) सहज स्वाभाविक, नित्य नित्य नवीन, सहजानन्द-समूहमयी, सहज सुखमयी और सहज शान्तिमयी है। आपके अङ्ग-अङ्गों में सहज माधुर्य है; जो मुझसे कहते नहीं बनता अर्थात् अनिर्वचनीय है।

टिप्पणी–

"सहज रूप वृषभानुनंदनी"

'सहज' शब्द का अर्थ है स्वाभाविक, नैसर्गिक, कृत्रिमता रहित। श्रीवृषभानुनंदिनी सहज रूप लावण्यमयी हैं। उनके सौन्दर्य-राशि में कृत्रिमता के लिये कोई स्थान नहीं है। आपके सहज सौन्दर्य को ही आचार्य पाद श्रीहित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु ने "अबला कै बल-रासि" के नाम से कहा है जिस बल-राशि से "अति गज मत्त निरंकुस मोहन" एक केश-पाश में अपने आप बँध जाते हैं। देखिये पद संख्या ५३ 'हित चौरासी'–

देखौ माई अबला कै बल-रासि।
अति गज मत्त निरंकुस मोंहन निरखि बँधे लट पासि।।
अबहीं पंगु भई मन की गति बिनु उद्यम अनियास।
तब की कहा कहौं जब पिय प्रति चाहति भृकुटि विलास।।

—इत्यादि

जिस प्रकार आपका रूप सहज है बनावट और कृत्रिमता रहित है, इसीप्रकार केलि, रस, सुख माधुर्य, चातुर्य आदि सभी कुछ स्वाभाविक, अनुपमेय एवं तद्रूप ही हैं।

(७)

युगल सरकार के स्वरूप का परिचय देकर अब उनकी रस क्रीड़ा का वर्णन करते हैं-

मूल—

विपिन निर्तत रसिक रस रासि।
दंपति अति आनंद बस, प्रेम मत्त निस्संक क्रीड़त।
चंचल कुंडल कर चरन, नैंन लोल रति रंग ब्रीड़त।।
झटकत पट चुटकिन चटक, लटकत लट मृदु हास।
पटकत पद उघटत सबद, मटकत भृकुटि विलास।।

भावार्थ—

रस की राशि युगल-किशोर रसिक-वर श्रीवृन्दावन में नृत्य कर रहे हैं- अत्यन्त आनन्द के वश में हुए प्रेम-मत्त दम्पति (युगल-किशोर) निःशंक भाव से क्रीड़ा परायण हैं। क्रीड़ा के समय आपके कुण्डल चञ्चल हो उठते हैं। आप हाथों, चरणों एवं नेत्रों की चपलता से साक्षात् रति के आनन्द-विनोद को भी लजा देते हैं। कभी परस्पर में एक दूसरे

के वस्त्रों को झटक देते हैं, तो कभी उँगलियों से चुटकियाँ चटकाते हैं। नृत्य में लटें लटक-लटक पड़ती हैं और आप मन्द और मधुर हास करते जाते हैं। साथ ही चरणों को ताल स्वर पूर्वक पटकते, [तदनुसार ता ता थेई आदि] शब्दों का उच्चारण करते और लीला पूर्वक अपनी भृकुटियों को भी मटकाते-नचाते हैं।

मूल- (८)

नवल नागरि नवल जुवराज।
नव नव वन घन क्रीड़ंत, नव निकुंज विलसंत सर्वसु।
नव नव रति नित नित बढ़त, नयौ नेह नव रंग नयौ रसु॥
नव विलास कल हास नव, मधुर सरस मृदु बैंन।
नव किशोर हरिवंश हित, सु नवल नवल सुख चैंन॥

भावार्थ-

नवल नागरी श्रीराधा एवं नव-युवराज श्रीकृष्ण इस नित्य नव-वन श्रीवृन्दावन में जो अत्यन्त सघन है, अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं और नव-निकुञ्ज में परस्पर के सर्वस्व दान पूर्वक सुख विलास करते हैं। दोनों में नित्य-नित्य नई-नई रति-प्रीति की वृद्धि होती, नया स्नेह, नया ही आनन्द रङ्ग और नया ही विलास, नव-नव हास्यादि का माधुर्य, और सरस वचनावली का प्रकाश होता रहता है। श्रीहित हरिवंश के ये नव युगल किशोर नित्य ही नये-नये सुख एवं आनन्द का आस्वादन करते रहते हैं।

(९)

इस अन्तिम छन्द में रस विहार की सर्वोपरिता के साथ माधुर्य एवं रसानन्द का वर्णन करते हैं-

मूल–

नवल-नवल सुख चैंन, ऐंन आपुने आप बस।
निगम लोक मर्जाद, भंजि क्रीड़ंत रंग रस।।
सुरत प्रसंग निसंक, करत जोई-जोई भावत मन।
ललित अंग चल भंगि, भाइ लज्जित सु कोक गन।।
अद्‌भुत विहार हरिवंश हित, निरखि दासि सेवक जियत।
विस्तरत सुनत गावत रसिक, सु नित नित लीला-रस पियत।।९।।

भावार्थ–

नवल युगल-किशोर नित्य नव-नव सुख एवं आनन्द के भण्डार हैं। वे केवल अपने आपके आधीन हैं, उन पर किसी और (वेद-शास्त्र-मर्यादा आदि) का कोई अधिकार या शासन नहीं है अतः ये युगलकिशोर समस्त वेद एवं लोक की मर्यादाओं को तोड़ताड़ कर अपने स्वच्छन्द आनन्द विहार की क्रीड़ा करते रहते हैं। क्रीड़ा के अवसर पर सुरत-प्रसङ्ग आदि जो-जो कुछ इनके मन आता है-इन्हें अच्छा लगता है, निःसंकोच भाव से वही वही करते हैं। आपके अङ्गों के लालित्य, चाञ्चल्य, भङ्गिमा एवं हाव-भावों को देखकर कोक-कलाओं के समूह भी लजाते हैं।

श्रीसेवकजी कहते हैं कि यह निःशङ्क एवं लोक-वेदातीत, अद्भुत विहार श्रीहित- हरिवंश का ही है, अर्थात् उनके द्वारा प्रकटित है या उनका ही अपना रूप है; जिसका दर्शन करके दासियाँ (सखियाँ, सहचरियाँ, सहेलियाँ एवं सेविकाएँ सभी) अपना जीवन धारण करती हैं। सखियाँ इसी रस का विस्तार करती, गान करती, श्रवण करती और इसी लीला रस का निरन्तर पान करती हैं।

टिप्पणी–

''अद्‌भुत विहार हरिवंश हित''

श्रीहरिवंश का यह हितमय विहार सबसे अद्‌भुत है– विलक्षण है। इसका आशय है कि यह विहार कर्म, ज्ञान, योग, सांख्य, मीमांसा आदि से परे और श्रेष्ठ तो है ही वरं भक्ति से भी श्रेष्ठ और विलक्षण है। नवधा के उपरान्त व्रज की रति है और यह रस विहार इस रति से भी श्रेष्ठ प्रेम-लक्षणा है।

दूसरे विलक्षण कहने का यह भाव है कि यह रसमय विहार लोक एवं वेद की मर्यादाओं से ऊपर–परे है। श्रीहरिवंशचन्द्र के द्वारा प्रकाशित यह विहार लोक वेदातीत है; अतः अद्भुत है। श्रीहित हरिवंशचन्द्र ने जिसका प्रकाश किया उस विहार की विलक्षणता का प्रकाश करते हुए श्रीहित ध्रुवदास जी ने कहा है–

निगम ब्रह्म परसत नहीं जो रस सबते दूर।
प्रगट कियौ हरिवंसजू रसिकन जीवन-मूर।।
निगम नीर मिलि एक भयौ भजन दूध सम सेत।
हरिवंस हंस न्यारौ कियौ प्रगट जगत के हेत।।

।। जै जै श्रीहरिवंश ।।

श्रीहित अनन्य टेक

(अष्टम् प्रकरण)

पूर्व परिचय–

प्रेम अपनी प्रथम अवस्था में किसी नाम–रूप विशेष के आश्रयत्व में प्रकट होकर फिर अन्तिम अवस्था में व्यापक हो जाता है। उसे प्राथमिक अवस्था में एकान्तिक स्थिरता के लिये अनन्यता की आवश्यकता है। आवश्यकता क्यों है? यह एकान्तिक अनन्यता तो उसका सहज स्वभाव होता है। प्रेमी को अपने प्रेमास्पद की ही बातें प्रिय लगतीं हैं, वह उसे ही देखना चाहता और केवल उसी से सम्बन्ध रखना चाहता है। उस प्रेमी के लिये अपने प्रियतम के सिवाय सारा संसार (कुछ नहीं है) शून्य के बराबर है।

अस्तु, इस प्रकरण में सेवकजी ने ऐसी ही अनन्य निष्ठा का प्रकाशन किया है। आपने पूर्व प्रकरणों में श्रीहरिवंश तत्व का स्पष्टीकरण करके यह बता दिया कि श्रीहरिवंशचन्द्र केवल आचार्य नहीं; अपितु परात्पर प्रेम तत्व हैं जो सर्वव्यापक के साथ एकदेशीय, चर, अचर, स्थूल, सूक्ष्म और कारण से भी परे हैं। यही श्रीप्रिया हैं, यही प्रियतम श्रीकृष्ण, यही वृन्दावन हैं और यही सहचरिगण; अर्थात् नित्य विहार के दिव्य परिकर के मूल कारण आप ही हैं। इन प्रेम रूप श्रीहरिवंशचन्द्र की ही आराधना की आवश्यकता भी उन्होंने प्रकट की। साथ–साथ उस उपासना की शैली आदि का भी निरूपण किया। उसी शैली–निरूपण के क्रम में अनन्यता भी एक विषय है।

प्रेम रस का साधक अपने इष्ट तत्व के प्रति अनन्य हो जाय, केवल उसी में डूब जाय, अपनी बुद्धि को बहुमुखी न बनाकर एकमुखी

बनावे। यह किस प्रकार होगा? इसके लिये उन्होंने स्वयं अपनी निष्ठा का प्रकार और फल वर्णन करके उपासकों में एक विश्वास की लहर पैदा कर दी है। सेवक जी की अनुभव पूर्ण छाप के साथ-साथ उनकी ''हरिवंश दुहाई''-शपथ, इस प्रकरण की ही क्या इस सम्पूर्ण ग्रन्थ की आत्मा है। इस विश्वास और अनुभव के सम्बल के ही सहारे साधक का पथ पूर्ण होगा।

इस सम्पूर्ण प्रकरण में अनन्यता सम्बन्धी प्रायः आठ बातों पर विचार किया गया है वे बातें इस प्रकार हैं—समस्त कर्म-धर्म देवोपासना आदि के त्यागपूर्वक श्रीहरिवंश उपासना, इस उपासना में जाति-पाँति, कुल धर्म, विधि निषेध आदि को महत्व न देना, श्रीहरिवंश नाम की अनन्य निष्ठा, अनन्य भावेन रस मूर्त्ति श्रीराधावल्लभलाल के कैशोर रस में ही निष्ठा; मान-अपमानादि में समभाव; श्रीहरिवंशचन्द्र द्वारा वर्णित केलि रस में ही निष्ठा; अवतारों से उठकर अवतारी तत्व श्रीराधावल्लभ में ही स्थिरता, और सबके मूल श्रीहरिवंशचन्द्र के नाम और रस में प्रीति।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण प्रकरण साधक के चित्त को सब ओर से समेट कर एकान्तिक बना देने का आदेश देता है। अब प्रथम छन्द में श्रीसेवकजी अपनी निष्ठा के विचार से सर्वस्व के तिरस्कार पूर्वक अपनी इष्ट-उपासना का लक्ष्य प्रकाशित करते हैं-

मूल— (१)

कर्म धर्म कोउ करहु वेद-विधि,
कोउ बहुविधि देवतनि उपासी।
कोउ तीरथ तप ज्ञान ध्यान व्रत,
अरु कोउ निर्गुन ब्रह्म उपासी।।

कोउ जम नेम करत अपनी रुचि,
कोउ अवतार कदंब उपासी।
मन-क्रम-वचन त्रिशुद्ध सकल मत,
हम श्रीहित हरिवंश उपासी॥

भावार्थ–

कोई वेदों की विधि (नियम) के अनुसार कर्म-धर्मों का पालन करते हो तो करो; यदि कोई बहुत प्रकार से देवताओं के ही उपासक हैं, कोई तीर्थाटन, तपस्या, ज्ञान-लाभ, ध्यान एवं व्रत उपवास आदि करते हैं और कोई निर्गुण ब्रह्म के ही उपासक हैं, इसी प्रकार कितने ही अपनी-अपनी रूचि के अनुसार यम-नियमादि का पालन करते हैं तो करें, यदि और कितने एक अवतार-समूह के उपासक हैं तो रहें किन्तु हम तो मन, वचन और कर्म इन तीनों की शुद्धि पूर्वक समस्त मतों के भी सार रूप श्रीहित हरिवंश के ही उपासक हैं, अन्य किसी के नहीं।

टिप्पणी– इस छन्द में कर्म धर्म और उपासना सम्बन्धी जितने विषय हैं उनका स्पष्टार्थ इस प्रकार है-

(१) **कर्म**- तीन प्रकार के हैं नित्य, नैमित्तिक और काम्य। इनमें सन्ध्या वन्दनादि नित्य कर्म, श्राद्धादि नैमित्तिक और यज्ञादि काम्य कर्म हैं। इन कर्मों में निष्काम और सकाम भाव की दृष्टि से दो भेद अलग हैं। यह कर्म की शृंखला बहु विस्तारमयी है और इसकी गति भी गहन है पर फल पतितोन्मुख करने वाला है।

(२) **धर्म**- सत्य, (अस्तेय) चोरी न करना, इन्द्रिय-दमन, किसी का बुरा न चाहना, लज्जा, तितिक्षा (क्षमा), असूया (किसी की निन्दा आदि न करना), यज्ञ, दान, धृति (उत्तम धारणा) और शास्त्र श्रवण ये दस, धर्म के सामान्य लक्षण हैं।

(३) देवोपासना- भिन्न-भिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिये अनेकों देवताओं की अलग-अलग उपासना की जाती है। इसका वर्णन श्रीमद्भागवत स्कन्ध-२ अध्याय-३ में है वहाँ देखना चाहिये। यह देवोपासना एक-एक वासना की पूर्ति करने वाली होती है; इससे भोगों की प्राप्ति तो होती है पर मोक्ष या शुद्ध परमार्थ तत्व की नहीं; अतः यह उपासना सकाम होने से हेय मानी गयी है।

(४) तीर्थ, तप, ज्ञान, ध्यान, व्रत- जब तक इन सबका लक्ष्य पुण्य संचय पूर्वक स्वर्गादि लोकों की वासना किंवा सांसारिक वासनाओं तक सीमित है; तब तक तो इनका कोई महत्व ही नहीं है। हाँ, भगवदुपनासना में यदि इनका प्रयोग किया जाय, तो अवश्य इनका विशेष सम्मान है किन्तु भगवदनुराग की उत्पत्ति में इनका विशेष महत्व नहीं है, ऐसा महापुरुषों का मत है-

जोग, जाग जप विराग तप सुतीरथ अटत।
बाँधिबे को भव-गयंद रेनु की रजु बटत॥

-गोस्वामी तुलसीदासजी

इसीलिये विहारी ने भी कहा-

तजि तीरथ हरि राधिका तन दुति करि अनुराग।
जेहिं व्रजकेलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग॥

भगवान की प्रीति और भक्ति के समक्ष बेचारी तपस्या की तो महत्ता ही क्या है? देखिये-

आराधितो यदि हरिस्तपसः ततः किं,
नाराधितो यदि हरिस्तपसः ततः किम्।
अन्तर्वहिर्यदि हरिस्तपसः ततः किं,
नान्तर्वहिर्यदि हरिस्तपसः ततः किम्॥

अर्थात् ''यदि तुमने श्रीहरि की आराधना की है, तो फिर बेचारी तपस्या किस काम की? और यदि तुमने केवल तपस्या ही की है श्रीहरि की आराधना नहीं की तो बेचारी तपस्या अपना क्या मूल्य रखती है? इसी प्रकार यदि तुम भीतर-बाहर सर्वत्र भगवद्दर्शन करते हो तो फिर तपस्या से क्या प्रयोजन है और यदि श्रीहरि को सर्वत्र न देखकर केवल तपस्या ही करते हो तो भी उस तपस्या का क्या महत्व?''

जिस प्रकार श्रीहरि की आराधना से शून्य होने पर तपस्या व्यर्थ है उसी प्रकार ज्ञान (नित्यानित्य विवेक), ध्यान (हठयोग की विधि से ध्येय तत्व का चित्त में प्रकाश) और व्रत (नियम संयमों की धारणा) भी व्यर्थ हैं।

सारांश यह कि इनसे न तो भगवत्प्रेम की प्राप्ति होती और न ये परमार्थ-तत्व के प्रकाशक हैं; अतः सब प्रकार से व्यर्थ हैं; केवल श्रम मात्र हैं।

(५) निर्गुन ब्रह्म उपासी– ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दो स्वरूप हैं। राम, कृष्ण, विष्णु आदि सगुण स्वरूप हैं और ब्रह्म, भूमा पुरुष, अव्यक्त तत्व, निर्गुण निराकार और व्यापक है। जो लोग इस अव्यक्त तत्व की उपासना करते हैं, वे निर्गुण उपासक कहे जाते हैं।

(६) यम-नियम- मन एवं इन्द्रियों को जीतने और वश में लाने के लिये जो-जो कुछ किया जाता है, वह सब यम नियम के नाम से कहा जाता है। श्रीमद्भागवत में यम नियम का वर्णन इस प्रकार है-

स्वधर्माचरण, परधर्म या विधर्म का परित्याग, सन्तोष, ज्ञानियों का पूजन, ग्राम्य धर्म से निवृत्ति, मोक्ष धर्म में प्रीति, अल्प और पवित्र भोजन, निरन्तर एकान्त एवं पवित्र स्थल में निवास, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, आवश्यक धन-संग्रह, ब्रह्मचर्य्य, तप, पवित्रता, वेदाध्ययन,

भगवान की पूजा, मौन, आसन की विजय, स्थिरता, प्राणों को जीतना, मन के द्वारा इन्द्रियों को विषयों से हटाकर हृदय में ले जाना, अपने शरीर के किसी एक भाग में मन के द्वारा प्राणों को स्थिर करना, भगवान की लीलाओं का चिंतन, चित्त की शान्ति, विषय एवं विषयीजनों का सङ्ग त्याग, और कुमार्ग-गामी चित्त को उपर्युक्त साधनों से बुद्धि द्वारा एकत्र करना, यही योग की प्राप्ति के सहायक यम और नियम हैं।'' (देखिये श्रीमद्‌भागवत स्क० ३ अ० २८ श्लोक १ से ७ तक।)

(७) अवतार कदम्ब उपासी– भगवान् ने भक्तों के लिये राम, कृष्ण, वामन, वाराह, नृसिंह, परशुराम, बुद्ध आदि अनेक अवतार लिये हैं। इन अवतार-समूहों में से किसी एक की या भगवत्तत्व के रूप में सबकी एक साथ ही उपासना करना अवतार उपासना है।

(८) श्रीहित हरिवंश उपासी- श्रीसेवकजी की अपनी राय है कि ऊपर जिन-जिन साधनों एवं उपासनाओं का वर्णन किया गया है, उन सबमें मेरी निष्ठा और रूचि नहीं वरं केवल श्रीहित हरिवंशचन्द्र में है। जिनकी उन उपासनाओं में रूचि है वे उन-उन उपासना, कर्म, धर्म, व्रत, यम, नियम आदि का पालन करें किन्तु हम तो मन, वचन, कर्म की त्रिशुद्धि पूर्वक श्रीहित हरिवंशचन्द्र की ही उपासना करते हैं क्योंकि हमें उक्त सभी बातों में वह तथ्य नहीं दीखता जो श्रीहित हरिवंशचन्द्र की उपासना में है।

इन श्रीहित हरिवंश की उपासना कर लेने पर उन सब बातों के पालन या तिरस्कार का कोई अर्थ नहीं रह जाता जिनका वर्णन कर्म, धर्म, यम नियम, अवतार-उपासना के नाम से किया गया है। क्योंकि ये श्रीहित हरिवंशचन्द्र ही समस्त मतों के गोप्य लक्ष्याराध्य हित-तत्व हैं–प्रेम तत्व हैं।

मूल— (२)

जाति पाँति कुल कर्म धर्म व्रत,
संसृति हेतु अविद्या नासी।
सेवक रीति प्रतीति प्रीति हित,
विधि-निषेध शृंखला बिनासी।।
अब जोई कही करैं हम सोई,
आयुस लियैं चलैं निज दासी।
मन-क्रम-वचन त्रिसुद्ध सकल मत,
हम श्रीहित हरिवंश उपासी।।

भावार्थ—

हमने श्रीहित हरिवंश उपासना को स्वीकार करके अपनी जाति, पाँति, कुलोचित कर्म, धर्म, व्रत और आवागमन के मूल कारण अविद्या का विनाश कर दिया है। सेवक की (मेरी) अपनी प्रतीति और प्रीति तो हित में है और इसीसे हमने वेदोक्त विधि और निषेधों की शृंखला का भञ्जन कर दिया है। श्रीहित हरिवंशचन्द्र ने जो कुछ कहा है, हम वही-वही करते और उन निजदासी की ही आज्ञाओं का पालन करते हैं। हम मन, वचन एवं कर्म से त्रिशुद्ध होकर समस्त मतों के सार श्रीहित हरिवंशचन्द्र की उपासना करते हैं—उनके उपासक हैं।

टिप्पणी—

(१) संसृति हेतु अविद्या—

जाति, पाँति, कुल कर्म, धर्म, व्रत, आदि आवागमन के हेतु होने से अविद्या रूप हैं क्योंकि ये उपरोक्त धर्म शुद्ध परमार्थ नहीं हैं तथा प्रत्येक अहंकृति का उत्पादक है अतएव सभी संसृति (आवागमन) के कारण हैं।

(२) अब जोई कही करैं हम सोई–

श्रीहिताचार्य चरण ने अपने रस-ग्रन्थ–श्रीहित चौरासी एवं श्रीराधा सुधा निधि आदि ग्रन्थों में रसिक उपासक के लिये जिन कर्मों का आदेश दिया है, हम उसी का पालन करते हैं। उन आज्ञाओं के पालन करते समय विधि निषेध, व्रत, संयम, नियम, धर्म आदि किसी की भी हमें परवा नहीं। हम तो केवल निज दासी (श्रीहित सजनि) की आज्ञानुसार ही चलना जानते हैं।

मूल– (३)

जो हरिवंश कौ नाम सुनावै,
तन-मन-प्रान तासु बलिहारी।
जो हरिवंश-उपासक सेवै,
सदा सेऊँ ताके चरन विचारी॥
जो हरिवंश-गिरा जस गावै,
सर्वसु दैऊँ तासु पर बारी।
जो हरिवंश कौ धर्म सिखावै,
सोई तौ मेरे प्रभु तैं प्रभु भारी॥

भावार्थ–

[श्रीसेवकजी कहते हैं-] जो कोई मुझे श्रीहरिवंश का नाम सुनाता है, उस पर मेरे तन, मन, प्राण सब न्यौछावर हैं। जो कोई श्रीहरिवंश के उपासक जनों का सेवन करता है मैं उसके चरणों का सदा सविचार (सतर्कता पूर्वक) सेवन करता हूँ। जो श्रीहरिवंश की वाणी (ग्रन्थ) का यशोगान करता है मैं उस पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दूँ और जो श्रीहरिवंश के धर्म (अनन्य हित धर्म) को सिखाता है वह तो मेरे प्रभु (श्रीहरिवंशचन्द्र) से भी महान् प्रभु है, अर्थात् वह मेरे सर्वाधार प्रभु के तुल्य है।

टिप्पणी–

'जो हरिवंश कौ धर्म सिखावै
सोइ तौ मेरे प्रभु ते प्रभु भारी'–

श्रीहरिवंशचन्द्र के धर्म का सिखाने वाला अनन्य धर्मी हित धर्म का पालक अनुभवी और रसिक प्रेमी होगा, क्योंकि यह प्रेम धर्मशास्त्रों का विषय नहीं वरं अनुभव का विषय है। ऐसे रसिकों के लिये श्रीहिताचार्य पाद ने भी वन्दना की है–

सर्वाश्चर्य्यगतिं गता रसमयीं तेभ्यो महद्भ्यो नमः।

अर्थात् ''सर्वाश्चर्य्यमयी एवं परम रसमयी गति को प्राप्त हुए उन महत्पुरुषों को मैं नमन करता हूँ।''

प्रभु के प्यारे भक्त, सन्तों और महात्माओं का महत्व इतना है कि जिसका वर्णन स्वयं भगवान् भी नहीं कर सकते तब सेवकजी का 'प्रभु ते प्रभु भारी' कहना उचित ही है।

मूल– (४)

श्रीहरिवंश सुनाद विमोहीं,
सुनि धुनि नित्य तहाँ मन दैहौं।
श्रीहरिवंश सुनंत चलीं संग,
हौं तिन संग नित्य प्रति जैहौं।।
श्रीहरिवंश विलास रास रस,
श्रीहरिवंश संग अनुभैहौं।
जो हरि नाम जगत्त सिरोमनि,
वंश बिना कबहूँ नहिं लैहौं।।

भावार्थ–

जो श्रीहरिवंश (श्रीकृष्ण की वंशी) की मधुर तान से विमोहित हो गयीं मैं भी उन्हीं (सखियों) की तरह सदा अपने मन को वहीं उसी रस में लगाऊँगा। जो श्रीहरिवंश (श्रीहरि की वंशी) सुनते ही [श्रीकृष्ण से मिलने के लिये]. एक साथ होकर चल पड़ीं, मैं उन्हीं के साथ सदा-सदा [सखि रूप से] चलूँगा। मैं श्रीहरिवंश के विलास और रास रस का अनुभव श्रीहरिवंश के ही साथ करूँगा और जो 'हरि' नाम त्रिलोकी में शिरोमणि है उसे भी मैं 'वंश' से रहित न लूँगा यदि लूँगा तो उसे 'वंश' के सहित–'हरिवंश'–इस रूप में।

टिप्पणी–

रास विलासादि सुखों की अनुभूति वंशी एवं सखी परिकर युक्त श्रीहरि से ही सम्भव है। वंशी रहित श्रीहरि से नहीं। श्रीसेवकजी अनन्य रसिक हैं अतः वंशी से रहित श्रीहरि को स्वीकार नहीं करते हैं, जो रसोपासना की दृष्टि से उत्तम पक्ष है।

(५)

अनन्य रसिक उपासकों का इष्ट तत्व क्या है- सर्वव्यापक अन्तर्यामी भगवान, किंवा यशोदानन्दन बालगोपाल अथवा नित्य-नव किशोर रास-रस विलासी? इसका निर्णय करते हुए आप इस छन्द में प्रकट करे हैं कि रसिक अनन्य उपासकों का उपास्य है- रास रस विलासी नित्य-नव किशोर स्वरूप।

मूल–

प्रेमी अनन्य भजंन न होइ,
जो अंतरयामी भजैं मन में।
जौ भजि देख्यौ जशोदा कौ नंदन,
(तौ) विश्व दिखाई सबै तन में।।

श्रीहरिवंश सुनाद विमोहीं,
ते शुद्ध समीप मिलीं छिन में।
अब यामें मिलौनी मिलै न कछू,
जब खेलत रास सदा बन में॥

भावार्थ–

यदि अन्तर्यामी भगवान् का मन-मन में भजन किया जाय तो वह अनन्य प्रेमियों का भजन नहीं कहा जायेगा, यदि यशोदानन्दन बालकृष्ण के लिये कहें [कि यह अनन्य प्रेमियों का भजनीय स्वरूप है तो यह भी कहते नहीं बनता क्योंकि बालकृष्ण] यशोदानन्दन ने अपने श्रीमुख में ही सारा विश्व दिखा दिया है (अर्थात् यह भी ऐश्वर्य भावों से पूर्ण बाल रूप है।) किन्तु जिन सखियों ने श्रीहरिवंश (श्रीकृष्ण की वंशी) की सुमधुर ध्वनि सुनी और जो मोहित हुईं, वे समस्त प्रकार से शुद्ध होकर (अर्थात् ऐश्वर्य, ज्ञान, माहात्म्य आदि से रहित होकर) एक क्षण में ही प्रियतम नव किशोर से जा मिलीं। अत: स्पष्ट है कि इस रास रस में- [रसोपासना में] और कुछ ज्ञान, ऐश्वर्य आदि की मिलावट तो हो ही नहीं सकती जबकि नवल-किशोर सदा-सर्वदा श्रीवन में रास-केलि करते रहते हैं (अर्थात् विशुद्ध रस की उपासना कैशोर भाव एवं विहार-क्रीड़ा में ही है; अन्यत्र नहीं।)

टिप्पणी–

''अब यामें मिलौनी मिलै न कछू
जब खेलत रास सदा बन में''-

सबके हृदय में आत्मा रूप से निवास करने वाला अन्तर्यामी भगवान्, सर्वव्यापक और नाम रूप रहित होने से अनन्य प्रेमियों का उपास्य नहीं हो सकता क्योंकि प्रेमीजन उसे प्रत्यक्ष चर्म-चक्षुओं से

देखना और मन इन्द्रियों से अनुभव करना चाहते हैं। इसीलिये सूरदास जी ने कहा है-

मिलिवौ नैननिं ही कौ नीकौ।
आछै नीके कृष्ण हमारे और ज्ञान सब फीकौ।।
मूँदे नैंन जु मृतक बराबर मूढ़ ज्ञान योगी कौ।
वेद पुरान भागवत गीता सबै ज्ञान पोथी कौ।
खाटी छाँछ मनहिं नहिं आवै सूर खवैया घी कौ।।

तो क्या फिर अनन्य रसिक प्रेमियों का उपास्य प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण रूप यशोदानन्दन हैं? श्रीसेवकजी उसका भी निराकरण करते हैं- नहीं, अनन्य रसिकों के उपास्य यशोदानन्दन भी नहीं हो सकते; क्योंकि उनमें एक तो बाल्य भाव है, दूसरे वे ऐश्वर्यमय हैं। उन्होंने तो अपने मुख में समस्त विश्व दिखाया था।

आशय यह कि अनन्य प्रेमियों का भजनीय तत्व शुद्ध रागमय, माधुर्य और रसमय नित्य नवल किशोर, रास-रस विलासी श्रीराधावल्लभलाल हैं जहाँ केवल माधुर्य है और ऐश्वर्य, ज्ञान माहात्म्य एवं विषयादि भावों का सर्वथा अभाव है। इस रसमय किशोर रूप में प्रेमीजनों के लिये सर्वव्यापकता, ऐश्वर्य आदि का अभाव माना जाता है और नित्य-विहार के परम तत्व का यही स्वरूप रसिकाचार्यों ने प्रकट किया है, इसीलिये श्रीसेवकजी कहते हैं-

अब यामैं मिलौनी मिलै न कछू,
जब खेलत रास सदा बन में।

अनन्य रसिक हित धर्मी का सेव्य एवं उपासनीय तत्व यही नित्य नव किशोर रूप है।

मूल– (६)

जौं बहु मान करै कोउ मेरौ,
किये बहु मानत नाहिं बड़ाई।
जौं अपमान करै कोउ कैहूँ,
किये अपमान नहीं लघुताई।।
श्रीहरिवंश गिरा रस सागर,
माँझ मगन्न सबै निधि पाई।
जौं हरिवंश तजौं भजौं औरहिं,
तौ मोहि श्रीहरिवंश दुहाई।।

भावार्थ–

यदि कोई मेरा अत्याधिक मान–सम्मान करे तो भी मैं उसके द्वारा किये अपने इस अति–सम्मान को अपनी कुछ बड़ाई (प्रभुता) नहीं मानता और यदि कोई मेरा किसी प्रकार का अपमान भी करे तो उसके ऐसा करने (अपमान करने) पर अपनी लघुता (छोटापन) नहीं मानता क्योंकि मैंने तो श्रीहरिवंश–वाणी रूपी रस समुद्र में मग्न होकर सम्पूर्ण आनन्द निधि पा ली है; इसलिये [मुझे इन द्वन्द्वों का कोई ध्यान ही नहीं है और जिनकी कृपा से यह स्थिति प्राप्त हुई है उन] श्रीहरिवंश को छोड़ कर मैं किसी और का भजन करूँ तो मुझे उन्हीं श्रीहरिवंश की ही दुहाई (शपथ) है। (अर्थात् मैं श्रीहरिवंश को ही सर्वसार जानकर अनन्य भाव से उनका ही भजन करता हूँ।)

टिप्पणी–

प्रेमियों की एक टेक होती है, वे जिसे स्वीकार कर लेते हैं फिर उसे छोड़ना तो जानते ही नहीं; क्योंकि उनका प्रेम निःस्वार्थ और केवल प्रेम के लिये होता है। उनका यह प्रण होता है–

हजरते 'दाग' जहाँ बैठ गये बैठ गये।
अब करके उठेंगे या मर के उठेंगे।।

इसी प्रकार यहाँ श्रीसेवकजी, श्रीहरिवंश को न छोड़ने की बात श्रीहरिवंश की ही शपथ के साथ प्रकट कर रहे हैं; इससे उनकी दृढ़-निष्ठा और प्रीति का पता तो चलता ही है पर साथ-साथ यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा से कोई ऐसा परम लाभ अवश्य पाया है, जिसके बल पर वे सारे कर्म, धर्म, योग, यम, नियम, ज्ञान, मोक्ष उपासनाओं की वासना के त्यागपूर्वक श्रीहरिवंश के ही भजन करने की शपथ ले रहे हैं। उस लाभ का उन्होंने सङ्केत भी किया है-

''श्रीहरिवंश गिरा रस सागर माँझ मगन्न सबै निधि पाई।''

और

''श्रीहरिवंश के नाम-प्रताप कौ लाभ लह्यौ सो कह्यौ नहिं जाई।''

आपके ये वाक्य हरिवंश के अनन्य प्रेमी उपासकों के हृदय में विश्वास, श्रद्धा, स्नेह और दृढ़ता उत्पन्न करने वाले हैं।

यह बात भी विचारणीय है कि श्रीसेवक जी ने इस छन्द में जो दुहाई दी है वह किसकी है? वह दुहाई किसी साधारण व्यक्ति की तो है नहीं; वह है अपने सद्गुरुवर्य इष्टदेव की। सो भी एक दो बार नहीं प्रत्येक छन्द में अन्त तक सात-सात बार दुहाई.दी है आपने। इससे उनकी दृढ़ता और विश्वास का जो प्रकाश प्रकट होता है, वह साधकों की विशेष वस्तु है-इस उपासना का सच्चा अवलम्ब है।

मूल- (७)

कही बन केलि निकुंज निकुंजनि,
नव दल नूतन सेज रचाई।
नाथ बिरंमि-बिरंमि कही तब,
सो रति तैसी धौं कैसे भुलाई।।

सत्वर उठे महा मधु पीवत,
माधुरी बानी मेरे मन भाई।
जौं हरिवंश तजौं भजौं औरहिं,
तौ मोहि श्रीहरिवंश दुहाई।।

भावार्थ–

श्रीहरिवंश चन्द्र ने अपनी वाणी में वर्णन किया है–श्रीवृन्दावन की प्रेम क्रीड़ा का। उस क्रीड़ा में आपने कुञ्ज–निकुञ्जों में नवीन किशलय दलों से नूतन शय्या रचना का वर्णन किया है।[१] विहार के प्रवाह में प्रियतम ने 'विरमि विरमि' ये जो शब्द कहे हैं[२] वे जिस प्रीति

---

१. वन की कुंजनि कुंजनि डोलनि
निकसत निपट साँकरी बीथिनु परसत नाँहि निचोलनि।।
प्रातकाल रजनी सब जागे सूचत सुख दृग लोलनि।
आलसवंत अरुन अति व्याकुल कछु उपजत गति गोलनि।।
निर्त्तनि भृकुटि वदन अंबुज मृदु सरस हाँस मधु बोलनि।
अति आसक्त लाल अलि लंपट बस कीनें बिनु मोलनि।।
विलुलित सिथिल स्याम छूटी लट राजत रुचिर कपोलनि।
रति विपरित चुंबन परिरंभन चिबुक चारु टक टोलनि।।
कबहुँ श्रमित किसलय सिज्या पर मुख अंचल झकझोलनि।
दिन हरिवंस दासि हिय सींचत बारिधि केलि कलोलनि।।

१. नागरी निकुंज ऐंन किसलय दल रचित सैंन,
कोक कला कुसल कुँवरि अति उदार री।
सुरत रंग अंग अंग हाव–भाव भृकुटि भंग,
माधुरी तरंग मथत कोटि मार री।।
मुखर नूपुरनि सुभाव किंकनी विचित्र राव,
''विरमि विरमि'' नाथ वदत वर विहार री।

से कहे हैं, वह रति भला कैसे भुलाई जा सकती है? इसी प्रकार आपके द्वारा वर्णित भाव कि "श्रीलालजी, प्रियाजी का महा मधुर अधरामृत पीकर जागृत हो उठे"[३], इसकी मधुरता मेरे मन को अत्याधिक प्रिय लगी।

श्रीसेवक कहते हैं कि श्रीहरिवंश-वाणी के इस महा मधुर रस का आस्वादन करके भी यदि मैं श्रीहरिवंश को छोड़कर अन्य किसी का भजन करूँ तो मुझे श्रीहरिवंश की ही दुहाई है।

लाड़िली किसोर राज हंस हंसनी समाज,
सींचत 'हरिवंश' नैंन सुरस सार री।।

३. विहरत दोऊ प्रीतम कुंज।
अनुपम गौर स्याम तन सोभा बन बरषत सुख पुंज।।
अद्‌भुत खेत महा मनमथ कौ दुंदुभि भूषन राव।
जूझत सुभट परस्पर अँग अँग उपजत कोटिक भाव।।
भरि संग्राम श्रमित अति अबला निद्रायत कल नैंन।
पिय के अंक निसंक तंक तन आलस जुत कृत सैंन।।
लालन मिस आतुर पिय परसत उरू नाभि उरजात।
अद्‌भुत छटा विलोकि अवनि पर विथकित बेपथ गात।।
नागरि निरखि मदन विष व्यापित दियौ सुधाधर धीर।
सत्वर उठे महामधु पीवत मिलत मीन मिव नीर।।
अबहीं मैं मुख मध्य विलोके बिम्बाधर सु रसाल।
जाग्रत ज्यौं भ्रम भयौ पर्‌यौ मन सत मनसिज कुल जाल।।
सकृदपि मयि अधरामृतमुपनय सुंदरि सहज सनेह।
तव पद पंकज कौ निजु मंदिर पालय सखि मम देह।।
प्रिया कहति कहु कहाँ हुते पिय नव निकुंज वर राज।
सुंदर वचन रचन कत वितरत रति लंपट बिनु काज।।
इतनौ श्रवन सुनत मानिनि मुख अंतर रह्यौ न धीर।
मति कातर विरहज दुख व्यापित बहुतर स्वाँस समीर।।
(जैश्री) हित हरिवंस भुजनि आकरषे लै राखे उर माँझ।
मिथुन मिलत जु कछुक सुख उपज्यौ त्रुटि लव मिव भई साँझ।।

टिप्पणी–

"नाथ बिरंमि बिरंमि कही"

युगल सरकार के ऐकान्तिक रति विहार के अवसर में तत्सुख भाव की पूर्णता से श्रीलालजी ने श्रीप्रियाजी के प्रति 'विश्राम लीजिये; 'विश्राम लीजिये' ये वाक्य कहे हैं। यह ऐसी दशा है जब नायक अपना और नायिका अपना सुख चाहती है, किन्तु यहाँ दोनों को स्वसुख की कोई इच्छा नहीं है।

इस दिव्य भाव की झाँकी आपकी वाणी ही में मिलती है। इस झाँकी के लिये 'हित चौरासी पद संख्या ७६ देखिये।'

इसी प्रकार **"कही बन केलि निकुंज निकुंजनि"** और **"सत्वर उठे महा मधु पीवत"** इन भावों की झाँकी भी हित चौरासी के पदों में मिलती है।

मूल– (८)

भुज अंसन दीनें बिलोकि रहे,
मुख चंद उभै मधु पान कराई।
आपु विलोकि हृदै कियौ मान,
चिबुक्क सुचारु प्रलोइ मनाई।।
श्रीहरिवंश बिना यह हेत,
को जानैं कहा को कहै समुझाई।

---

१. आज अति राजत दम्पति भोर।
सुरत रंग के रस में भीने नागरि-नवल-किसोर।।
"अंसनि पर भुज दियें विलोकत इंदु वदन विवि ओर।
करत पान रस मत्त परसपर लोचन त्रषित चकोर।।"
छूटी लटनि लाल मन करष्यौ ये याके चित चोर।
परिरंभन चुंबन मिलि गावत सुर मंदर कल घोर।।

जो हरिवंश तजौं भजौं औरहिं,
तौ मोहि श्रीहरिवंश दुहाई।।

भावार्थ–

युगल सरकार परस्पर एक दूसरे के कन्धों पर भुजाएँ अर्पित किये मुखकमल का दर्शन करते हुए मुख-माधुरी का पान कर रहे हैं। [१] ऐसा हरिवंश वाणी, श्रीहित चौरासी पद संख्या ३२ में वर्णित है। जब [प्रियतम के] हृदय में स्वयं की छवि का दर्शन करके श्रीप्रियाजी ने मान कर लिया तो प्रियतम ने आपका सुन्दर चिबुक सहलाकर आपको मना लिया। [२] श्रीहरिवंशचन्द्र के बिना भला कौन इस हित-प्रीति को जान सकेगा और समझाकर कह सकेगा?

[श्रीसेवकजी कहते हैं–] ऐसे सर्वज्ञ, रसज्ञ एवं मर्मज्ञ श्रीहरिवंश को छोड़कर यदि मैं किसी और का भजन करूँ तो मुझे श्रीहरिवंश की ही दुहाई है अर्थात् मैं कभी भी उनका परित्याग नहीं कर सकता; वही मेरे सर्वस्व हैं।

पग डगमगत चलत बन विहरत रुचिर कुंज घन खोर।
जैश्री हित हरिवंश लाल ललना मिलि हियौ सिरावत मोर।।

२. आजु निकुंज मंजु में खेलत, नवल किसोर नवीन किसोरी।
अति अनुपम अनुराग परस्पर, सुनि अभूत भूतल पर जोरी।।
विद्रुम फटिक विविध निर्मित धर, नव कर्पूर पराग न थोरी।
कोमल किसलय सैंन सुपेसल, तापर स्याम निवेसित गोरी।।
मिथुन हास परिहास परायन, पीक कपोल कमल पर झोरी।
गौर स्याम भुज कलह मनोहर, नीबी बंधन मोचत डोरी।।
''हरि उर मुकुर विलोकि अपनपौ, विभ्रम विकल मानजुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत, प्रिय प्रतिबिंब जनाइ निहोरी।।''
नेति नोति वचनामृत सुनि सुनि, ललितादिक देखतिं दुरि चोरी।
(जैश्री) हित हरिवंश करत कर धूनन, प्रनय कोप मालावलि तोरी।।

मूल– (९)

श्रीहरिवंश सु नाद सुरीति,
सुगान मिलैं बन माधुरी गाई।
श्रीहरिवंश वचन्न रचन्न सु–
नित्य किसोर किसोरी लड़ाई।।
श्रीहरिवंश गिरा रस रीति सु-
चित्त प्रतीति न आन सुहाई।
जो हरिवंश तजौं भजौं औरहिं,
तौ मोहि श्रीहरिवंश-दुहाई।।

भावार्थ–

श्रीहरिवंशचन्द्र ने अपनी सु-वाणी में सुनाद (सुन्दर वंशीनाद), सुरीति (रस-रीति) और सुगान (प्रेम रस गान) द्वारा वृन्दावन-माधुरी का गान किया है। श्री हरिवंश जी ने अपनी वचन-रचना (वाणी) के द्वारा नित्य-किशोर एवं नित्य किशोरी का लाड़-दुलार किया है। श्रीसेवकजी कहते हैं मेरे चित्त को तो बस श्रीहरिवंशचन्द्र की वाणी में वर्णित रस-रीति का ही एकमात्र विश्वास है। मुझे इसके सिवाय और कुछ अच्छा ही नहीं लगता; अतएव यदि मैं श्रीहरिवंश को छोड़ किसी और का भजन करूँ, तो मुझे श्रीहरिवंश की ही शपथ है।

मूल– (१०)

श्रीहरिवंश कौ नाम सु सर्वसु,
जानि सु राख्यौ मैं चित्त समाई।
श्रीहरिवंश के नाम प्रताप कौ,
लाभ लह्यौ सो कह्यौ नहिं जाई।।
श्रीहरिवंश कृपा तैं त्रिशुद्ध कै,
साँची यहै जु मेरे मन भाई।

जो हरिवंश तजौं भजौं औरहिं,
तौ मोहि श्रीहरिवंश दुहाई।।

भावार्थ–

मैंने श्रीहरिवंश के इस सुन्दर नाम को ही अपना सु सर्वस्व समझकर चित्त में धारण कर रखा है और मैंने श्रीहरिवंश नाम प्रताप का जो लाभ पाया है वह तो मेरी वाणी द्वारा कहा भी नहीं जा सकता (अनिर्वचनीय है।) श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा से मन–वचन, कर्म की त्रिशुद्धि के पश्चात् सत्य रूप से मेरे मन में यही बात अच्छी लगी कि यदि मैं श्रीहरिवंश को छोड़ किसी और का भजन करूँ तो मुझे श्रीहरिवंश की ही शपथ है।

टिप्पणी– **''त्रिशुद्धि''**

'त्रिशुद्धि' इस शब्द में अनेकों प्रकार की तीन–तीन शुद्धियों का अर्थ लिया जा सकता है किन्तु इस प्रसंग में उपासना सम्बन्धी त्रि–शुद्धियों का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये; यथा–

(क) मन वचन एवं कर्म,

(ख) मन प्राण एवं आत्मा,

(ग) हृदय, काय, वाणी,

(घ) मन, बुद्धि एवं चित्त।

इस त्रिशुद्धि के बिना उपासना की दृढ़ निष्ठा बननी असम्भव है। जिनकी निष्ठा त्रि–शुद्धि पूर्वक बनी है वही सच्चे–निष्ठावान उपासक हैं। शेष तो कई बार गिरते उठते देखे जाते हैं।

मूल— (११)

देखे जु मैं अवतार सबै भजि,
तहाँ-तहाँ मन तैसौ न जाई।
गोकुलनाथ महा ब्रज वैभव,
लीला अनेक न चित्त खटाई॥
एक ही रीति प्रतीति बँध्यौ मन,
मोहीं सबै हरिवंश बजाई।
जो हरिवंश तजौं भजौं औरहिं,
तौ मोहि श्रीहरिवंश दुहाई॥

भावार्थ—

मैंने सब अवतारों को भजकर देख लिया [उनमें कोई ऐसा आकर्षण विशेष नहीं है] जिससे उनमें मन अपने आप यानि सहज रूप से नहीं लगता। गोकुलनाथ-बालकृष्ण की वैभवपूर्ण ब्रज लीलाएँ भी अनेक हैं; तथापि उनमें भी मेरा चित्त रुचि नहीं मानता या वे लीलायें मेरे चित्त में नहीं खटातीं। अपितु मेरा मन तो एक ही रीति की प्रतीति (विश्वास) में बँध चुका है; वह क्या? जो श्रीहरिवंश ने डंके की चोट में अपनी रसरीति से सबको मोहित कर लिया है, किंवा श्रीहरि ने वंशी बजाकर जिस रीति से सबको मोहित कर लिया; बस उसी रस रीति की प्रतीति मेरे मन में है अन्य की नहीं; अतएव ऐसे रस रूप श्रीहरिवंश को छोड़कर यदि मैं किसी और का भजन करूँ तो करूँ कैसे? यदि करूँ तो मुझे श्रीहरिवंश की दुहाई है अर्थात् मैं ऐसा त्रिकाल में नहीं कर सकता।

टिप्पणी—

''एकही रीति प्रतीति बँध्यौ मन''

अन्य उपासनाओं में वह बात नहीं है जो प्रेमोपासना में है। प्रेमोपासना में मन स्वतः अपने प्रियतम के प्रति फँसता है। उसे प्रियतम

में लगाने की कोशिश नहीं करनी पड़ती, वरं वह अपने प्यारे के रूप, गुण, माधुर्य आदि से ऐसा चिपट जाता है कि फिर हटाये नहीं हटता। बस, यही श्रीहित हरिवंशचन्द्र की रस रीति है– डंके की चोट पर मोहित करना है।

श्रीसेवकजी कहते हैं मन जिस प्रकार इस रस–रीति में फँसता है, वैसा न तो किसी अवतार की उपासना में फँसता है और न गोकुलनाथ (व्रजविहारी श्रीबालकृष्ण) की वैभवपूर्ण लीलाओं में ही; क्योंकि इसमें माधुर्य रस का अल्प विकास है अथवा कहीं–कहीं तो अत्यन्त अभाव भी है।

चित्त के सम्मोहन के लिये जिस उद्दीपन और आकर्षण की आवश्यकता है, वह केवल इस अनन्य रसरीति के भजन में है। जबकि वह गोकुलनाथ की लीलाओं में भी नहीं है, तब अन्य अवतारों में तो होगा ही कहाँ से? अतएव श्रीसेवकजी की प्रीति–प्रतीति केवल श्रीहरिवंश के द्वारा प्रकाशित रस–रीति पर ही है।

(१२)

नाम अरद्ध हरै अघ पुंज,
जगत्त करै हरि नाम बड़ाई।
सो हरि वंश समेत संपूरन,
प्रेमी अनन्यनि कौं सुखदाई॥
श्री हरिवंश कहंत सुनंत,
छिन–छिन काल वृथा नहिं जाई।
जो हरिवंश तजौं भजौं औरहिं,
तौ मोहि श्रीहरिवंश दुहाई॥

भावार्थ–

'श्रीहरिवंश' नाम का केवल आधा 'हरि' ही समस्त पाप–समूहों का नाश करने में समर्थ है इसलिये विश्व इस 'हरि' नाम का यशोगान

करता है। किन्तु वही 'हरि' नाम वंश के साथ मिलकर 'हरिवंश' इस सम्पूर्ण रूप में अनन्य प्रेमियों के लिये सुखदायक बनता है केवल 'हरि' आधे रूप में नहीं। इस श्रीहरिवंश नाम का कथन-श्रवण करते कराते क्षण भर समय भी वृथा नहीं जाता, सब सार्थक होता है; अतएव मैं निरन्तर केवल इसी का भजन करता हूँ, यदि इस श्रीहरिवंश नाम को छोड़कर किसी और का भजन करूँ तो मुझे श्रीहरिवंश की ही दुहाई है।

मूल– (१३)

श्रीहरिवंश सु प्रान, सु मन हरिवंश गनिज्जै।
श्रीहरिवंश सु चित्त, मित्त हरिवंश भनिज्जै॥
श्रीहरिवंश सु बुद्धि, बरन हरिवंश नाम जस।
श्रीहरिवंश प्रकाश, बचन हरिवंश गिरा रस॥
हरिवंश नाम बिसरै न छिन, श्रीहरिवंश सहाय भल।
हरिवंश चरन सेवक सदा, सपथ करी हरिवंश बल॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश मेरे सुन्दर प्राण हैं, श्रीहरिवंश ही सुन्दर मन हैं, ऐसा जानिये। श्रीहरिवंश ही सुन्दर चित्त और श्रीहरिवंश ही मित्र कहे जाते हैं। श्रीहरिवंश सुन्दर बुद्धि और श्रीहरिवंश के चार वर्ण ही सुयश हैं। श्रीहरिवंश के वचन (प्रबोध, उपदेश) ही प्रकाश (दिव्य ज्ञान) और श्रीहरिवंश की वाणी रस रूपा है।

श्रीसेवकजी कहते हैं कि मैं सदा सर्वदा श्रीहरिवंश चरणों का ही सेवक हूँ। मुझे श्रीहरिवंश-नाम एक क्षण के लिये भी नहीं भूलता और श्रीहरिवंश ही मेरे परम सहायक हैं; अतः मैंने उन्हीं के बल पर उन्हीं (श्रीहरिवंश) की शपथ ली है।

टिप्पणी–

''सपथ करी हरिवंश बल''

इस छप्पय में श्रीसेवकजी ने बताया कि श्रीहरिवंश ही समष्टि रूप से प्रत्येक प्राणी के प्राण, मन, चित्त, आत्मा, बुद्धि, विवेक, वाणी आदि सभी कुछ हैं। वही व्यष्टि रूप से मेरे सर्वस्व हैं। इस ग्रन्थ में इस व्यष्टि सत्ता (मेरे) द्वारा जो कुछ कहा गया है सो सब मानो उन्हीं ने कहा है। ऐसी दशा में प्रत्येक सिद्धान्त श्रीहिताचार्य प्रणीत है।

अस्तु, अब यदि कोई यह दोषारोपण करे कि श्रीसेवकजी ने सद्‌गुरुवर्य की शपथ क्यों ली? इतनी बड़ी शपथ की क्या आवश्यकता थी?

इसका समाधान ही मानो यह छप्पय है कि मैंने अपने अहं से शपथ नहीं ली वरं उन्हीं 'उर-प्रेरक हितचन्द्र' ने मेरे प्रत्येक करण में प्रवेश करके शपथ ली है। चूँकि उस शपथ के प्रकाश केन्द्र इस शरीर की वाणी और मन आदि उन श्रीहरिवंश के रूप नहीं है क्या? वही वह तो मेरे अन्तर में समाये हुए हैं; अतः यह उनके ही द्वारा, उनके बल पर और उनकी प्रेरणा से है।

शपथ परम सत्य है। जो लोग श्रीहरिवंश को क्षण भर भी नहीं भूलते वे इस सत्य का साक्षात्कार करते हैं। श्रीहरिवंश उनकी सहायता करते हैं।

शपथ करने वाली की शाख पर विश्वास करना चाहिये। क्योंकि यहाँ शपथ करने वाले 'सेवकजी' श्रीहरिवंश चरणों के अनन्य सेवक, उपासक, प्रेमी, शिष्य और परम भक्त हैं। विचारणीय बात है कि अपने इष्टदेव और प्राणेश्वर श्रीगुरु की शपथ भला श्रीसेवकजी जैसे सत्य वक्ता महापुरुष योंही क्यों लेने लगे? अतः यहाँ शपथ का सविशेष कारण है। क्या कारण है? यह कि सर्व साधारण जीव श्रीहरिवंश नाम में विश्वास और प्रीति करके इस अनुपम नाम के अनुपम लाभ को प्राप्त करें, जिसका अनुभव मैंने किया है।

॥ जै जै श्रीहरिवंश ॥

श्रीहित अकृपा-कृपा लक्षण

(नवम् प्रकरण)

पूर्व परिचय-

यों तो सब प्राणियों पर प्रभु की कृपा समान रूप से है ही; क्योंकि सब जीव उनके ही अंश हैं, किन्तु यहाँ पर 'कृपा और अकृपा' नाम से जिस कृपा का वर्णन किया गया है, इस का अभिप्राय विशेष कृपा से है। प्रभु-कृपा से सम्पन्न जीव वही कहा जायगा जो प्रभु प्रेम से सम्पन्न होगा। श्रीहरिवंश-चरणाश्रित होकर युगल-किशोर के दिव्य प्रेम रस का जिन किन्हीं बड़भागी जनों ने पान किया है, वे सब भी प्रभु-कृपा से सम्पन्न हैं। जिन्होंने उसका आस्वादन नहीं किया, चाहे फिर वे कितने ही बड़े क्यों न कहलाते हों, कृपा से रीते- कृपा रहित ही हैं। श्रीसेवकजी का यही मत है।

इस प्रकरण में श्रीहरिवंश कृपा से रहित जीवों का परिचय और श्रीहरिवंश-कृपा सम्पन्न जीवों का परिचय दो खण्डों में अलग-अलग सोरठों में दिया गया है। प्रथम अकृपा के दस सोरठे इस प्रकार हैं-

अकृपा लक्षण

मूल- (१)

सब जग देख्यौ चाहि, काहि कहौं हरि-भक्ति बिनु।
प्रीति कहूँ नहिं आहि, श्रीहरिवंश-कृपा बिना।।

भावार्थ-

[श्रीसेवकजी कहते हैं-] मैंने सब संसार को अच्छी प्रकार (छान-बीनकर) देख लिया है। तब किसके लिये कह दूँ कि ये

''हरि-भक्ति-विहीन'' हैं अर्थात् 'हरि-भक्ति' तो सबमें है परन्तु श्रीहरिवंश कृपा के बिना प्रीति अवश्य कहीं नहीं हैं; [क्योंकि श्रीहरिवंश कृपा में ही प्रीति का उदय है।]

टिप्पणी–

''प्रीति कहूँ नहिं आहि श्रीहरिवंश-कृपा बिना''

श्रीसेवकजी ने सारे जगत् को देख डाला प्रीति का कहीं दर्शन न हुआ भक्ति सर्वत्र मिली। इस कथन में 'देख्यौ सब जग' उपासक जगत् के लिये है न कि नास्तिक या अन्य बद्ध जगत के लिये।

तात्पर्य यह कि उपासकों में भक्ति है पर प्रीति नहीं। यह बात कहने सुनने में कुछ लोगों को असंगत सी लग रही होगी, किन्तु वे सूक्ष्म दृष्टि से देखने का कष्ट करें तो उन्हें भी भक्ति और प्रीति में अन्तर दिखेगा। भक्ति शब्द भज धातु से बना है जिसका अर्थ है सेवा। सेवा-परिचर्या ही प्रीति- प्रेम है यह कैसे हो सकता है? इसी 'सेवा' और प्रीति के पार्थक्य को समझाने के लिये भक्ति के दो भेद किये गये हैं- वैधी और रागानुगा। वैधी अर्थात् विधि मार्ग की भक्ति केवल क्रियात्मिका है उसमें राग (प्रेम) का समावेश नहीं किन्तु जब उसी क्रियात्मिका वैधी भक्ति में अनुराग का मेल-जोल होने लग जाता है, तब उसे 'रागानुगा' कहने लगते हैं।

इस रागानुगा का उदय हो जाने पर क्रियाओं का महत्व घट जाता है। यह रागानुगा, वैधी नवधा भक्ति के करते-करते ही आती है। सेवकजी ने कहा है–

ये नव लच्छन भक्ति बढ़ाई।
तब तिन प्रेम लच्छना पाई॥

सेवा या प्राथमिक वैधी भक्ति तो भाव या प्रेम के अभाव में भी हुआ करती है। उदाहरण देखें– रूपयों के लिये पुजारी आदि भी तो सेवा और पूजा अर्चा किया करते हैं पर उनमें प्रीति हो या न हो, सम्भव है। इस तरह सिद्ध है कि प्रेम और सेवा (भक्ति) दोनों दो स्वतंत्र विषय हैं। यह बात अलग है कि सेवा (भक्ति) ही सिद्धि काल में प्रेम से मिलकर प्रेम–रूपा भक्ति बन जाती है तब भले ही उसका नाम प्रेम रख दिया जाय परन्तु केवल सेवा और प्रेम में अन्तर रहा ही आता है।

इस सोरठे में जिस प्रेम की ओर संकेत किया गया है, वह साधन से परे और स्वयं प्रकाश रूप है। यह प्रेम श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा से ही प्रगट होता है क्योंकि ये स्वयं प्रेम देवता हैं। इसीलिये चाचाजी ने कहा है–

धनी दियें धन पाइये ये गुरु की सिच्छा।
नाते वस्तु जु मिलत है लेऊ प्रेम परिच्छा।।

जब नाते से ही किसी वस्तु का अधिकार मिलता है, तो प्रेम धन के धनी प्रेम स्वरूप श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा के बिना प्रेम भी कैसे मिल सकता है? अत: जो हरिवंश कृपा से वञ्चित हैं, उन्हें यह प्रीति नहीं मिल सकी है, चाहे उनके पास भक्ति भले ही हो।

मूल– (२)

गुप्त प्रीति कौ भंग, संग प्रचुर अति देखियत।
नाहिंन उपजत रंग, श्रीहरिवंश कृपा बिना।।

भावार्थ–

प्राय: देखा जाता है कि सङ्ग (आसक्ति) की प्रचुरता (अधिकता) से गुप्त प्रीति का विनाश (भंग) हो ही जाता है। अतएव श्रीहरिवंश कृपा के अभाव में [यह विनाश होने पर] आनन्द (रंग) की उत्पत्ति नहीं हो पाती।

टिप्पणी–

प्रेम अत्यन्त ऐकान्तिक रस है। संग-साथ किंवा आसक्तियों की अधिकता में प्रीति की हानि हो जाना स्वाभाविक है। प्रीति पूर्ण रूप से एक प्रेमपात्र के प्रति होती है किन्तु जहाँ अनेकों इष्ट हों वहाँ प्रीति कहाँ? उपासना भक्ति भले हो सकती है प्रीति नहीं। और जहाँ अनेकों के प्रति प्रेम है वस्तुतः उपासना का व्यापार है, वहाँ रंग–आनन्द भी कैसे प्रकट हो सकता है?

मूल– (३)

मुख बरनत रस रीति, प्रीति चित्त नहिं आवई।
चाहत सब जग कीर्ति, श्रीहरिवंश कृपा बिना।।

भावार्थ–

श्रीहरिवंश-कृपा से विहीन लोग प्रेम से शून्य होने पर भी सारे संसार में अपनी कीर्ति फैलने की आशा लगाये रखते हैं। यद्यपि वे अपने मुख से प्रेम-तत्व रस रीति का वर्णन भी करते हैं किन्तु उनके चित्त में प्रीति का उदय नहीं होता।

टिप्पणी–

प्रेम-तत्व का वाणी द्वारा वर्णन कर देना अलग बात है और प्रेम तत्व का हृदय में प्रकाशित हो जाना अलग। कोई भी विद्वान रस-रीति का वर्णन कर सकता है क्योंकि उसने बुद्धिसे उस विषय को समझ रखा है। वह ख्याति भी पा सकता है परन्तु इतना सब होने पर भी वह प्रेम शून्य ही रहेगा। यह नियम नहीं है कि प्रेम-तत्व का वर्णन करने वाला प्रेमी भी होता है।

किन्तु इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति जो श्रीहरिवंश कृपा से सम्पन्न है, विद्वान न होने के कारण रस-रीति का वर्णन न कर सकने पर भी

प्रेमी हो सकता है। तात्पर्य यह कि प्रेम-तत्व विद्वत्ता पर नहीं अपितु श्रीहरिवंश-कृपा पर निर्भर है।

मूल– (४)

गावत गीत रसाल, भाल तिलक सोभित घना।
बिनु प्रीतिहिं बेहाल, श्रीहरिवंश कृपा बिना।।

भावार्थ–

चाहे कोई भले ही बड़े सरस गीत गाता हो और उसके ललाट पर अत्यन्त सुन्दर तिलक भी क्यों न हो? किन्तु [इन बाह्य चिह्नों से क्या होता है?] वह तो श्रीहरिवंश कृपा रूप प्रेम-प्राप्ति के बिना विह्वल ही देखा जायगा।

टिप्पणी–

तिलक, कण्ठी, माला आदि वैष्णवता के बाह्य चिह्न मात्र हैं। इनके धारण करने मात्र से कोई प्रेमी या भक्त नहीं हो जाता। वास्तव में ये तो वैष्णवता की निष्ठा को दृढ़ करने वाले साधन हैं। इसी प्रकार सुन्दर एवं सरस गीतों का गायन ही प्रेम नहीं है। मधुर कण्ठ से श्रीकृष्ण लीला का गान करने वाली वैश्या भक्त नहीं कही जा सकती।

इन सबके रहते प्रेमी नहीं हुआ जा सकता, यदि श्रीहरिवंश-कृपा न हो तो और यदि श्रीहरिवंश कृपा है तो बिना कण्ठी तिलक धारण किये भी प्रेम-तत्व मिल सकता है। वास्तव में तब श्रीहरिवंश-कृपा ही वाञ्छनीय है।

मूल– (५)

नाचत अतिहिं रसाल, ताल न सोभित प्रीति बिनु।
जनु बींधे जंजाल, श्रीहरिवंश कृपा बिना।।

भावार्थ–

कुछ लोग अत्यन्त रसीले नृत्य करते और ताल भी देते हैं किन्तु प्रीति के बिना उनका नृत्य-ताल शोभा नहीं पाता। वे बेचारे श्रीहरिवंश-कृपा के बिना तो नृत्य-ताल के जञ्जाल में ही बिंधे (उलझे) हैं।

टिप्पणी–

नृत्य करना, गान करना, ताल एवं स्वरों का उत्तम रीति से लगाना, ये सभी बातें चूँकि शृंङ्गार रस की सहायक हैं और इनके ज्ञाता नर्त्तक गायक जन भी अपने हाव भावों से यही सूचित करते हैं कि वे भी बड़े प्रेमी और रसिक हैं किन्तु बात ऐसी है नहीं कि वे प्रेमियों के हाव-भाव प्रकट करने मात्र से प्रेमी हो गये। प्रेम-तत्व तो नाट्य-कला, नृत्य-कला, गान-कला और अनेकों ललित कलाओं से दूर है। यह प्रेम केवल श्रीहरिवंश-कृपा से प्रकाशित होता है। नाच गाकर प्रेमी बनने का अभिमान किया जा सकता है पर प्रेमी बनना तो श्रीहरिवंश कृपा पर है।

मूल– (६)

मानत अपनौ भाग, राग करत अनुराग बिनु।
दीसत सकल अभाग, श्रीहरिवंश कृपा बिना॥

भावार्थ–

कितने एक लोग हृदय में अनुराग के न रहने पर भी रागी (प्रेमी) की सी क्रिया करके प्रेम दिखाते और अपने भाग्य की स्वयं सराहना करते हैं, [किन्तु यह सब उनका भ्रम है।] उनका दुर्भाग्य तो स्पष्ट दीख रहा है कि वे श्रीहरिवंश-कृपा से विहीन है; [तब वहाँ अनुराग और सौभाग्य कहाँ?]

टिप्पणी–

प्रेम की वास्तविकता का बोध न होने से कुछ लोग अपनी साधारण स्थिति में ही प्रेमीपने का आरोप करके अपने भाग्य की बड़ाई करते, कृतकृत्यता मानते और अहंकृति लादते हैं किन्तु यह सब धोखा है। उन्हें यह सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिये कि **'प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय'** यह प्रेम तो किसी विरले पात्र में प्रकट होता है। और तब प्रकट होता है, जब प्रेम रूप श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा हो जाय उस जीव पर।

मूल– (७)

पढ़त जु वेद पुरान, दान न सोभित प्रीति बिनु।
बींधे अति अभिमान, श्रीहरिवंश कृपा बिना।।

भावार्थ–

भले ही कोई वेद एवं पुराणों का पाठ कर रहा है एवं दान भी देता है किन्तु उसके दान और वेद-पाठ प्रेम के बिना शोभा नहीं पाते। वह तो श्रीहरिवंश-कृपा के बिना अभिमान का ही शिकार है। वेद-पाठ और दान के अभिमान से बिद्ध है।

टिप्पणी–

प्रेम के समक्ष वेद पाठ, दान, यज्ञ, जप, तप आदि इन सब साधनों की कुछ भी महत्ता नहीं है। ये साधन प्रेम रस की उत्पत्ति तो कर नहीं सकते वरं उल्टा अहंकार उत्पन्न करते हैं। इसी को लक्ष्य में रखकर मानो रसखानिजी ने कहा है–

कहा 'रसखानि' सुख संपति सुमार महँ
कहा महा जोगी ह्वै लगाये अंग छार को?
कहा साधे पंचानल कहा सोये बीच जल,
कहा जीत लीन्हें राज सिंधु वारापार कौ?

जप बार बार तप संजम अपार और
तीरथ हजार अरे बूझत लबार को?
सोई है गवाँर जिन कीन्हों नहिं प्यार
नहिं सेयो दरबार यार नंद के कुमार को??

भाव यह कि प्रेम के बिना सब साधन और पुण्य कार्य व्यर्थ हैं। प्रेम ही सर्वोपरि धन है। सो वह भी श्रीहरिवंश-कृपा बिना असम्भव है।

मूल– (८)

दरसन भक्त अनूप, रूप न सोभित प्रीति बिनु।
भरम भटक्कत भूप, श्रीहरिवंश कृपा बिना।।

भावार्थ–

कुछ लोग दर्शनीय भक्त होते हैं [अर्थात् रूप, रंग, अवस्था और शरीर की गठन आदि उनकी प्रत्येक स्थिति मनोहर होती है और तिस पर वे तिलक मुद्रा, छाप, कण्ठी, माला आदि से अपने आपको और भी सुसज्जित कर लेते हैं।] इनका रूप भी अनूप (उपमा न दे सकने योग्य) होता है, किन्तु केवल एक प्रीति के बिना यह सब रूप-स्वाँग शोभा नहीं देता। ये भी अपने आपको 'भक्तराज' मानकर भ्रम (भ्रान्ति) में ही भटकते रहते हैं, क्योंकि इतना सब होने पर भी यदि श्रीहरिवंश-कृपा नहीं है, तो प्रेम मिल नहीं सक़ता और प्रेम के बिना और सब कुछ नट के स्वांग से अधिक क्या है?

टिप्पणी–

सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी यदि हृदय में प्रेम नहीं है, तो सब व्यर्थ है। श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है-

कीरति कुल करतूति भूति भल सील सरूप सलौने।
'तुलसी' प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग अलौने।।

-विनय पत्रिका

मूल– (९)

सुंदर परम प्रवीन, लीन न सोभित प्रीति बिनु।
ते सब दीखत दीन, श्रीहरिवंश कृपा बिना।।

भावार्थ–

कोई सुन्दर है, परम चतुर है और प्रत्येक गुण में लीन है (अर्थात् उन-उन गुणों में पूरी तरह से उसका प्रवेश है) किन्तु यदि उसके प्रीति नहीं है, तो ये सारे गुण शोभा नहीं पाते। वह तो श्रीहरिवंश कृपा के बिना दीन ही दीखता है और उसके सब गुण भी दीन दीखते हैं।

टिप्पणी–

समस्त गुणों की महत्ता प्रेमसे संयुक्त होने पर है। प्रेम विहीन गुण उसी प्रकार व्यर्थ हैं जैसे सर्व शोभा सम्पन्न शरीर प्राणों के बिना व्यर्थ है। प्रेम ही सबकी शोभा है।

मूल– (१०)

गुन मानी संसार, और सकल गुन प्रीति बिनु।
बहुत धरत सिर भार, श्रीहरिवंश कृपा बिना।।

भावार्थ–

संसार गुण मानी है (अर्थात गुणों का ही आदर करना जानता है) यदि किसी के पास एक प्रीति के सिवाय अन्य सारे गुण हैं, तो क्या हुआ? वह तो श्रीहरिवंश-कृपा के बिना प्रीति को न पाकर सारे गुणों का केवल बोझ अपने सिर पर रखे बैठा है। प्रेम के बिना उन गुणों की क्या महत्ता है?

टिप्पणी–

किसी के हृदय में छिपे हुए प्रेम-तत्व को समझना सरल नहीं है। संसार उसे न पहचान कर किसी के बाह्य गुणों पर ही रीझता और

उसकी पूजा किया करता है। यह बात अलग है कि कोई अपने गुणों से विश्व-वन्द्य हो जाय पर इससे क्या? पूजा-प्रतिष्ठा होने पर भी यदि वह प्रेमी नहीं है; यदि वह बहुगुणी होकर भी सहृदय-प्रेमी नहीं है तो श्रीसेवक जी के मत से वह उन गुणों का भार ही ढो रहा है।

अब यदि उसे श्रीहरिवंश-कृपा की प्राप्ति हो जाय तो वह प्रेम की प्राप्ति करके गुणों के भार को फेंक कर सुखी हो सकता है।

कृपा - लक्षण

श्रीहरिवंश कृपा से रहित जीवों की दशाओं का वर्णन करके अब कृपा-सम्पन्न बड़भागी जनों का स्वरूप परिचय कराते हैं कि उनमें कौन-कौनसी विशेषताएँ प्रकट हो जाती हैं।

मूल– (१)

मुख बरनत हरिवंश, चित्त नाम हरिवंश रति।
मन सुमिरन हरिवंश, यह जु कृपा हरिवंश की॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश की कृपा का यही प्रकट लक्षण है कि जिस पर इस कृपा का स्रोत बहता है, वह मुख से श्रीहरिवंश के गुण एवं लीलाओं का वर्णन करता, चित्त में श्रीहरिवंश-नाम से रति करता और मन में श्रीहरिवंश का ही स्मरण करता है।

मूल– (२)

सब जीवन सौं प्रीति, रीति निबाहत आपनी।
श्रवण कथन परतीति, यह जु कृपा हरिवंश की॥

भावार्थ–

जो अपनी रीति (श्रीयुगल-किशोर के नित्य-विहार रस श्रीवन-विहार में अनन्य निष्ठा) का निर्वाह करते हुए विश्व के सब

जीवों से प्रीति (सम भाव) रखता और अपने इष्टदेव के गुण, लीला-चरित्र आदि के श्रवण कथन में विश्वास रखता हो, मानो वह श्रीहरिवंश की कृपा का पात्र है अथवा यही श्रीहरिवंश की कृपा का फल है कि उक्त गुणों का अपने में प्रकाश हो।

टिप्पणी–

''सब जीवनि सौं प्रीति रीति निबाहत आपनी''

सब जीवों से प्रीति और अपनी रीति (अर्थात् अनन्य भाव से युगल किशोर से प्रेम) ये दोनों क्या एक साथ हो सकते हैं? इसका समाधान यही है कि यहाँ ''सब जीवनि सों प्रीति'' इसका यह आशय है कि समस्त प्राणियों में समभाव रखे। किसी से राग-द्वेष, घृणा-उपेक्षा, ईर्ष्या-असूया आदि न करे।

भाव यह कि सब प्राणियों में समभाव पूर्वक इष्ट बुद्धि करे और रसोपासना की दृष्टि से सदा सर्वदा अपना मन युगल-चरणारविन्दों में लगाये रखे।

मूल– (३)

शत्रु मित्र सम जानि, मानि मान अपमान सम।
दुख सुख लाभ न हानि, यह जु कृपा हरिवंश की॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश-कृपा का यह स्वरूप है कि कृपा-पात्र शत्रु और मित्र में समभाव वाला हो जाय और मान एवं अपमान में भी सम हो जाय। उसके लिये न कुछ सुख रह जाय न दुख; न लाभ न हानि ही। भाव यह कि उसके लिये सुख-दुःख एवं लाभ-हानि के द्वन्द्व चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले न हों अथवा श्रीहरिवंश-कृपा पात्र जन की शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सुख-दुःख, लाभ और हानि में सम बुद्धि हो जाती है।

मूल— (४)

नित इक धर्मिन संग, रंग बढ़त नित नित सरस।
नित नित प्रेम अभंग, यह जु कृपा हरिवंश की॥

भावार्थ—

नित्य निरन्तर ऐकान्तिक (अनन्य) धर्मियों का संग मिलना, नित्य-नित्य सरस आनन्द की वृद्धि होना और नित्य-प्रति अखण्ड अनुराग की प्राप्ति होना ही श्रीहरिवंश की कृपा है, क्योंकि बिना कृपा के ये सभी बातें सम्भव नहीं हैं।

मूल— (५)

निरखत नित्यबिहार, पुलकित तन रोमावली।
आनंद नैन सुढार, यह जु कृपा हरिवंश की॥

भावार्थ—

नित्यविहार का दर्शन हो रहा हो, सम्पूर्ण शरीर आनन्द से पुलकित हो- रोमाञ्चित हो, नेत्रों से आनन्द के आँसुओं का प्रवाह ढल रहा हो, यह सब श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा है।

मूल— (६)

छिन छिन रुदन करंत, छिन गावत आनंद भरि।
छिन छिन हहर हसंत, यह जु कृपा हरिवंश की॥

भावार्थ—

जिस पर श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा है, वह प्रेम में उन्मत्त होने के कारण क्षण-क्षण में रोदन करता; क्षण-क्षण में आनन्द से भरकर गाने लगता और फिर क्षण-क्षण में हँसने लगता है।

टिप्पणी—

उन्मत्त प्रेमी की दशाओं का वर्णन करते हुए महात्मा सुन्दरदासजी ने लिखा है-

कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै रोवन फिर लागै।
कबहुँक गदगद कंठ सब्द निकसै नहिं आगै॥
कबहुँक हृदय उमंग बहुत ऊँचे स्वर गावै।
कबहुँक ह्वै मुख मौन गगन ऐसैं रहि जावै॥
चित्त वित्त हरि सौं लग्यौ सावधान कैसे रहै।
यह प्रेम लच्छना भक्ति है सिष्य सुनहु सुंदर कहै॥

श्रीमद्भागवत में प्रह्लादजी की प्रेम-तन्मय दशाओं का वर्णन इस प्रकार है—

न्यस्त क्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया।
कृष्णग्रह गृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्॥
आसीनः पर्यटन्नश्नञ्छयानः प्राषिबन्ब्रुवन्।
नानु सन्धत्त एतानि गोबिन्द परिरम्भितः॥
क्वचिद्रुदति वैकुण्ठ चिन्ता शबल चेतनः।
क्वचिद्हसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्॥
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्पचित्तद्भावना युक्तस्तन्मयो नु चकार ह॥
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्श निर्वृतः।
अस्पन्द प्रणयानन्द सलिलामीलितेक्षणः॥

(श्रीमद्भागवत स्क॰ ७/अ॰ ४/श्लोक ३७ से ४१ तक)

अर्थात् ''प्रह्लादजी उन बालकों को खेलकूद में ही लगा छोड़कर भगवद्ध्यान में तल्लीन हो जाने से जड़वत हो जाते थे। उनके चित्त को कृष्ण रूप ग्रह ने ग्रस लिया था। इसलिये उन्हें यह कुछ भी पता नहीं रह जाता था कि 'जगत ऐसा है।' श्रीगोविन्द में तन्मय रहने के कारण

उन्हें बैठते, घूमते, खाते, शयन करते, पीते और बोलते चलते समय भी उन क्रियाओं का कुछ भी भान नहीं रहता था। कभी बैकुण्ठनाथ की चिन्ता से चित्त क्षुभित हो जाने के कारण वे रोने लगते, कभी भगवत् स्मृति से आनन्दित होकर हँसने लगते और कभी जोर-जोर से भगवद्-गुण-गान करने लगते थे।''

''इसी प्रकार वे कभी अत्यन्त उत्कण्ठित होकर गर्जना करने लगते, कभी लज्जा छोड़कर नृत्य करने लगते और कभी भगवद्भावना के आवेश में आकर उनकी लीलाओं का अनुकरण करने लगते थे। कभी भगवान के स्पर्श का अनुभव करके परमानन्द से पुलकित हो चुपचाप बैठे रहते। उस समय उनके नेत्र अविचल प्रेम के आनन्द से प्रकट हुए प्रेमाश्रुओं से पूर्ण होकर कुछ-कुछ मुँदे से हो जाते थे।''

श्रीसेवकजी कहते हैं कि यह उन्मत्त प्रेम श्रीहित हरिवंशचन्द्र की कृपा से ही प्रकट हो सकता है क्योंकि वही प्रेम के प्रकट रूप हैं। चाहे फिर कोई उनकी कृपा किसी प्रकार क्यों न प्राप्त करे।

मूल– (७)

छिन-छिन बिहरत संग, छिन-छिन निरखत प्रेम भरि।
छिन जस कहत अभंग, यह जु कृपा हरिवंश की॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा प्राप्त हो जाने पर प्रेमी प्रत्येक क्षण युगल सरकार के साथ श्रीवन में विहार करता, क्षण-क्षण में प्रेम से परिपूरित नेत्रों से उनकी महामधुर छबि का दर्शन करता और क्षण-क्षण में उनके शाश्वत यश का मस्ती के साथ गान करता है।

मूल– (८)

निरखत नित्य किसोर, नित्य नित्य नव सुरति।
नित निरखत छबि भोर, यह जु कृपा हरिवंश की॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा से पूर्ण प्रेमी नित्य-किशोर की नित्य-नूतन प्रेम क्रीड़ा (सुरत विलास) का दर्शन करता और फिर प्रातःकाल युगल किशोर की (सुरतालस पूर्ण) छबि का भी दर्शन करता है (अर्थात् वह प्रेमी प्रभु कृपा से उस वस्तु को प्राप्त करता है, जो औरों के लिये अगम्य है।)

टिप्पणी–

पहले प्रेमोदय होता है, पश्चात् प्रेम-सिद्धि। प्रेम-सिद्धि होने पर श्रीहरिवंश-कृपा से नित्य-विहार दर्शन और प्रवेश होता है, इसलिये 'निरखत नित्य-किशोर' कह कर श्रीसेवकजी ने "नित निरखत छवि भोर" कहा। इन दोनों वाक्यों में 'नित्य केलि दर्शन' और फिर नित्य-दर्शन का भाव प्रकट किया। ये दोनों बातें श्रीहरिवंश-कृपा से ही सम्भव हैं; क्योंकि नित्य-विहार श्रीहित हरिवंशचन्द्र की निज सम्पत्ति है। श्रीहरिवंशचन्द्र ही इसके एकमात्र दाता हैं; इन्हीं की कृपा से नित्य विहार की प्राप्ति हो सकती अन्य प्रकार से नहीं।

मूल– (९)

त्रिपित न मानत नैंन, कुंज रंध्र अवलोकतन।
यह सुख कहत बनैं न, यह जु कृपा हरिवंश की॥

भावार्थ–

युगल किशोर के ऐकान्तिक विहार को कुञ्ज-रन्ध्रों (छिद्रों) से अवलोकन करते रहने पर भी मेरे नेत्र तृप्ति नहीं मानते। यह सुख

कुछ कहते नहीं बनता [इस दिव्य सुख में सराबोर करा देना] यह श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा है।

मूल–　　(१०)

कहा कहौं बड़भाग, नित नित रति हरिवंश हित।
नित बर्धित अनुराग, यह जु कृपा हरिवंश की।।

भावार्थ–

मैं अपने महान्तम भाग्य की क्या प्रशंसा करूँ; क्योंकि मेरे हृदय में नित्य-नित्य श्रीहित हरिवंशचन्द्र की रति का उदय हो रहा है और यह अनुराग नित्य प्रति बढ़ता ही जा रहा है। यह श्रीहरिवंशचन्द्र की ही कृपा है।

टिप्पणी–　　**''नित-नित रति हरिवंश हित''**

भगवान् में रति होने से भगवद्धाम और मोक्ष-तत्व की प्राप्ति होती है किन्तु श्रीहरिवंश-चरणों में रति होने से नित्य-विहार तत्व की प्राप्ति होती है; अतएव श्रीहरिवंशचन्द्र के प्रति रति होने में आपने 'बड़भाग' पने का अनुभव किया है। श्रीहरिवंश-चरणानुराग भगवान् श्रीहरि की कृपा ही है–

अर्चन, बन्दन अरु दासंतन......
यह हरि भक्ति करै जब कोइ,
तब हरिवंश नाम रति होइ।
यह जु बहुत हरि की कृपा।।

और–

हरि प्रसन्न हरिवंश-रति।

–सेवक वाणी

श्रीहरिवंश चरणों की ही रति मिले और हमें इसके सिवाय भक्ति, ज्ञान, मोक्ष तो चाहिये ही नहीं, अपितु भगवच्चरणानुराग की भी अपेक्षा नहीं है। यह श्रीहरिवंश चरणानुराग ही समस्त साधन सिद्धि फल है–

दयिता कृष्णचन्द्र की यहै अनुग्रह कीजै।
जनम जनम मोकों रति 'हित-पद' ही दीजै।।

– चाचा हित वृन्दावनदास

इसी प्रकार मोहनमत्तजी ने सबके तिरस्कारपूर्वक श्रीहरिवंश चरणानुराग को अपना लक्ष्य किया है–

मत्त बिना महबूब मुहब्बत हित रहनी क्यौं चारैं?
तीन लोक की भूत मूत सम सुर नर मुनि धुधकारैं।।
स्वर्ग नरक बैकुण्ठ लोक गो सब सोटे पर मारैं।
मोहन मत्त व्यासनंदन दे छिन-छिन चरन संभारैं।।

अस्तु, रसिकों ने श्रीहरिवंश चरणों का अनुराग ही क्यों माँगा? इस बात को दूसरी दृष्टि से देखें। जब श्रीगुरु एवं भगवान् में कोई भेद नहीं है तो श्रीहरि और श्रीहरिवंश में भी कोई भेद नहीं है, अतएव श्रीहरिवंश की उपासना ही युगल किशोर की उपासना है। श्रीहरिवंश भूतल पर प्रकट प्रेमावतार हैं; अतः उन्हें प्रत्यक्ष पाकर उनकी ही उपासना करके उनके नित्य विहार-तत्व को बड़ी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिये नित्य विहार रस के मूल बीज स्वरूप श्रीहरिवंश के चरणों में नित्य नूतन रति (प्रीति) की याचना करना उचित और आवश्यकीय है।

(११)

अब प्रकरण के उपसंहार में श्रीहरिवंश-कृपा का अन्तिम फल रस-विहार की प्राप्ति और अनुभूति का वर्णन करते हुए सेवकजी प्रकरण की समाप्ति करते हैं–

मूल—

नित बर्धित अनुराग भाग अपनौ करि मानत।
नित्य नित्य नव केलि निरखि नैंननि सचु मानत॥
नित नित श्रीहरिवंश नाम नव नव रति मानत।
नित नित श्रीहरिवंश कहत सोई सिर मानत॥
आपुनौ भाग आपुन प्रगट कहत जु श्रीहरिवंश बल।
हरिवंश भरोसे भये निडर सु नित गर्जत हरिवंश बल॥

भावार्थ—

अनुराग के नित्य बढ़ने में ही मैं अपना अहो भाग्य मानता हूँ और नित्य नव नवायमान् केलि का अवलोकन कर परम सुख का अनुभव करता हूँ। श्रीहरिवंश-नाम के प्रति (जो विहार का भी मूल है) नित्य नयी प्रीति करता और श्रीहरिवंशचन्द्र ने जो कुछ कहा है उसे सदा सर्वश्रेष्ठ (शिरोमणि रूप) मानता हूँ।

श्रीसेवक जी कहते हैं कि मैं स्वयं अपना भाग्योदय श्रीहरिवंश बल से प्रकट कह रहा हूँ, क्योंकि मैं श्रीहरिवंश-विश्वास से सब प्रकार से निर्भय हो चुका हूँ। इसीलिये अपने विजय और भाग्योदय की गर्जना करता रहता हूँ।

टिप्पणी—

''आपुनौ भाग आपुन प्रगट कहत जु श्रीहरिवंश बल''

अपने भाग्योदय का प्रकश स्वयं ही कर रहे हैं; इसका कारण है कि यह भाग्योदय हमारे साधन से न होकर श्रीहरिवंश-कृपा से हुआ है। इसलिये कृतज्ञता प्रकाश के साथ-साथ दूसरे लोगों के लिये यह बात विश्वास उत्पन्न कराने वाली होगी। इसे श्रवण करके धर्मी जिज्ञासु गण श्रीहरिवंश कृपा की याचना करेंगे- उनकी उपासना करेंगे, इससे

साधकों का कल्याण ही होगा; अतः साधकों में विश्वास और भाव की उत्पत्ति कराने के लिये श्रीसेवकजी ने अपने सौभाग्योदय की बात अपने मुख से कही है।

श्रीसेवकजी के लिये किसी का यह सोचना कि वे यह सब आत्मश्लाघा (गौरव) के लिये कर रहे हैं और ऐसा करने से उनका पतन (अभिमान आदि के द्वारा) हो सकता है, यह भूल है। क्योंकि वे परमार्थ मार्ग की सब कठिनाइयों एवं स्थितियों को श्रीहरिवंश कृपा से पार कर चुके हैं। वे उन मायिक भावों से मुक्त हैं, जो बद्ध जीवों को गिराने में समर्थ हैं। यह बात भी और ध्यान में रखने की है कि भगवान् और सिद्ध सन्तों में अहंकार आदि मायिक-भावों का अभाव होता है; अतः वे उसके बन्धन से भी मुक्त होते हैं।

।। जै जै श्रीहरिवंश ।।

श्रीहित भक्त-भजन

(दशम् प्रकरण)

पूर्व परिचय–

इस प्रकरण में भक्तों (उपासकों) के एकमात्र भजनीय तत्व का निरूपण किया गया है। यों तो युगल-किशोर प्राणिमात्र के भजनीय हैं किन्तु युगल-किशोर के चरणों में प्रीति उत्पन्न करा देने वाले साधक रसिक-भक्तजनों (उपासकों) के लिये युगलकिशोर से पहले रसिक जन ही भजनीय हैं। यह बात सिद्ध है कि भक्तों की कृपा के बिना भक्ति या प्रेम नहीं मिल सकता, अतएव मन, वचन, कर्म–सर्वप्रकार से भजनीय केवल भक्तजन ही हैं। श्रीसेवकजी ने इस भजन के प्रकरण को दो विभागों में बाँट दिया है- एक भक्त भजन-सिद्धान्त और दूसरा रस-सिद्धान्त।

पहले भक्त भजन-सिद्धान्त में भक्तों का स्वरूप, उनके प्रति अनन्य और पूज्य भाव, उनकी आराधना से लाभ आदि बातों का स्पष्टीकरण किया गया है और दूसरे रस-सिद्धान्त में युगलकिशोर जो समस्त रसिक जनों के सर्वस्व हैं, उनके ऐकान्तिक-विहार का स्वरूप प्रकट किया गया है। युगल किशोर का यह ऐकान्तिक-विहार हित तत्व से किस प्रकार ओतप्रोत है, यह भी प्रकट किया गया है। इस रसमय तत्व की उपलब्धि के लिये साधक क्या करे? किस भावना से यह रस अनुभव में आ सकेगा, इस प्रकरण का अन्तिम विषय है।

अब प्रथम छन्द में आप यह बताते हैं कि भक्त कौन हैं और उनके प्रति किस प्रकार की पूज्य बुद्धि रखनी चाहिये।

भक्त भजन-सिद्धान्त

मूल–

(१)

श्रीहरिवंश सुधर्म दृढ़, अरु समुझत निजु रीति।
तिनकौ हौं सेवक सदा (सु) मन-क्रम वचन प्रतीति॥
मन क्रम वचन प्रतीति प्रीति दिन चरन सँभारौं[१]।
नित प्रति जूठनि खाऊँ बरन भेदहिं न विचारौं॥
तिनकी संगति रहत जाति कुल मद सब नंसहिं।
संतत 'सेवक' सदा भजत जे श्रीहरिवंशहिं॥

भावार्थ–

जो श्रीहरिवंश-धर्म में पक्के (दृढ़) हैं और अपनी रीति (रसोपासना) को भली प्रकार से समझते हैं, मैं उनका मन, वचन, कर्म एवं विश्वास पूर्वक सदा-सर्वदा सेवक हूँ। मन, वचन, कर्म, विश्वास एवं प्रीति के साथ नित्य प्रति उनके चरणों को ही (सर्वस्व की तरह) सँभालता रहता हूँ। मैं उनके प्रति वर्ण भेद (जाति विचार) न मानकर सदा उनका जूँठन ही खाता हूँ या खाऊँ। उन (रस भीनें हरिवंश-धर्मी जनों) की संगति में रहते जाति, कुल आदि के सारे अहंकार नष्ट हो जाते हैं, अतएव मैं श्रीहरिवंश का भजन करने वाले जनों का सदा-सर्वदा का सेवक हूँ, (ऐसा श्रीसेवक जी कहते हैं।)

टिप्पणी–

दिन चरन सँभारौं–

वेद, शास्त्र एवं सभी सन्त महात्माओं का निर्णीत सिद्धान्त है कि रसिक अनन्यों, भक्तों एवं महापुरुषों के चरण-रज-स्नान, पान से समस्त कल्मषों का नाश होकर श्रीहरि में अनन्य प्रीति का उदय होता है। गोस्वामी श्रीकृष्ण चन्द्रजी कहते हैं–

१ पाठान्तर- पखारौं।

साधु चरन रज सेवन संतत, यह मेरे मत काज सुधी कौ।

श्रीहरिराम जी 'व्यास' कहते हैं–

साधु चरन रज माँझ 'व्यास' से कोटिक पतित समात।

श्रीध्रुवदास जी कहते हैं–

जिनके हिय तें टरत नहिं श्रीराधा वल्लभ लाल।
तिनकी पद रज धोइ 'ध्रुव' पिवत रहौ सब काल।।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है–

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन।
नैंन अमिय दृग-दोष विभंजन।।

महात्मा जड़ भरत जी ने राजा रहूगण को उपदेश दिया था–

रहूगणै तत्तपसा न याति, न चेज्यया निर्वपणाद गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलग्नि सूर्यैर्विना महत्पाद रजोभिषेकम्।।

श्रीमद्भागवत ५/१२/१२

अर्थात् ''रहूगण! परमार्थ तत्व की प्राप्ति महापुरुषों की चरण रज से अभिषेक करने के सिवा तप, यज्ञ, अन्नादि दान, गृहस्थोचित धर्म-पालन, वेदाध्ययन् अथवा जल, अग्नि सूर्य आदि की उपासना इन किन्हीं साधनों से नहीं हो सकती।''

मूल– (२)

सब अनन्य साँचे सुविधि, सबकौ हौं निजु दास।
सुमिरन नाम पवित्र अति, दरस परस अघ नास।।
दरस परस अघ नास, बास निजु संग करौं दिन।
तिन मुख हरि जस सुनत, श्रवन मानौं न त्रिपित छिन।।
कलि अभद्र बरनत सहस, कलि कामादिक द्वंद्व तब।
सेवक सरन सदा रहै, साँचे सुविधि अनन्य सब।।

भावार्थ–

जो भली प्रकार से सच्चे अनन्य रसिक हैं, मैं उन सबका निज दास हूँ। उन का नाम–स्मरण अत्यन्त पवित्र होता है तथा उनका दर्शन–स्पर्श अघ नाशक है। जिनके दर्शन और स्पर्श से पापों का नाश हो जाता है मैं ऐसे रसिक अनन्यों का निरन्तर सहवास और ऐकान्तिक सहज संग करूँ, उनके मुख से श्रीहरि का सुयश सुनते हुए कभी मेरे कर्ण–पुट (कान) एक क्षण भर को भी तृप्ति न माने। (उन रसिकों के द्वारा श्री हरि के सुयश) वर्णन किये जाने पर कलियुग के हजारों–हजारों अमंगल, कलह, काम, क्रोध लोभ, मोहादि, द्वन्द्व वहाँ (सेवक के पास) कैसे रह सकते हैं ? इसलिये जो सच्चे और भली प्रकार से अनन्य हैं, 'सेवक' उन सबकी चरण–शरण में सदा रहा आवे, यही अभिलाषा है, (अथवा सदा उनकी चरण शरण में रहता है।)

टिप्पणी–

''सब अनन्य साँचे सुविधि सबकौ हौं निजुदास''

इस पंक्ति में श्री सेवक जी ने स्पष्ट कहा है कि जो 'साँचे' और 'सुविधि' अनन्य हैं, मैं उन सबकौ दास हूँ नकि काचे धर्मियों का। केवल दीक्षा, कण्ठी और तिलक मात्र से कोई **'साँचे सुविधि अनन्य'** नहीं हो सकता और ऐसों की संगति से जाति कुल आदि का न तो नाश होता है और न कामादिक द्वन्द्व ही मिटते हैं वरं उलटे बढ़ जाते हैं।

अतएव यहाँ पर 'सब' और 'सबको' से उन सब अनन्य धर्मियों से ही अर्थ लेना चाहिये। क्योंकि इन्हीं का 'दरस परस अघ नास' करेगा।

मूल– (३)

श्रीराधावल्लभ भजत भजि, भली भली सब होइ।
रसिक अनन्य सजाति भजि, भली भली सब होइ।।

भली भली सब होइ, जबहिं हरिवंश चरन रति।
भली भली तब होइ, रचित रस रीति सदा मति॥
भली भली सब होइ, भक्ति गुरु-रीति अगाधा।
भली भली सब होइ, भजत भजि श्रीहरि राधा॥

भावार्थ–

अरे भाई ! तू श्रीराधावल्लभ का भजन करने वालों का भजन कर (अर्थात् अनन्य रसिकों की सेवा कर) इसमें तो तेरा सब प्रकार मंगल लाभ होगा। तू रसिक अनन्यों के सजातीय (रसिक अनन्यों) का भजन कर, सब भला ही भला होगा। विशेष लाभ सुख तू तब पावेगा जब तू श्रीहरिवंश चरणों में रति करेगा और सब प्रकार भला ही भला तब होगा, जब तेरी मति (बुद्धि) श्रीहरिवंश-रचित रस-रीति में सदा के लिये लग जायगी। सब भला ही भला हुआ, ऐसा तो तब कहा जा सकेगा, जब श्रीगुरुदेव द्वारा बतायी गयी रीति (रसमय हित-भजन प्रणाली) में तेरी अगाध भक्ति हो जायगी और मूल बात तो यह है कि जब तू श्रीहरि-राधा के भजनानन्दी रसिकों का भजन करने लग जायगा, तभी तेरा भला है–कल्याण ही कल्याण है।

टिप्पणी–

''भक्ति गुरु रीति अगाधा''–

इस वाक्य का आशय है–श्रीगुरु-रीति में अगाध भक्ति हो। यहाँ 'गुरु-रीति' क्या है, विचारणीय है।

'गुरु' शब्द का स्थूलार्थ न लेकर सूक्ष्म अर्थ लें तो गुरु का अर्थ श्रीराधा तत्व है जो आचार्य श्रीहितहरिवंश चन्द्र की भी गुरु हैं और दूसरा अर्थ श्री गुरु का श्रीहित हरिवंश चन्द्र भी हैं, क्योंकि आप तो

युगल-किशोर की भी गुरु रूपा सखि हैं साक्षात् हित-प्रेम हैं। युगल सरकार तो आपके ही वशीभूत होकर सारी प्रेम-क्रीड़ाएँ करते हैं। तब 'गुरु-रीति' का अर्थ होगा- यगुल किशोर की प्रेम-क्रीड़ा या नित्य विहार की शैली। इस 'गुरु-रीति' (अर्थात् नित्य विहार में) अगाध भक्ति होने से भला ही भला होगा, यह श्री सेवकजी का आशय है।

मूल- (४)

श्रीराधावल्लभ भजत भजि, भली भली सब होइ।
असुभ अनर्भल संग जन, विमुख तजौ सब कोइ॥
विमुख तजौ सब कोइ, झूठ बोलत सचु मानत।
दोष करत निरसंक, रंक करि संतन जानत॥
अभिमानी गर्विष्ठ, लोभ मद मत्त अगाधा।
दुष्ट परिहरौ दूर, भजत भजि श्रीहरि राधा॥

भावार्थ-

हे भाई! तू श्रीराधावल्लभ का भजन करने वाले भक्तों का भजन सेवन कर, इससे तेरा सर्वविध मंगल होगा और तू अशुभ एवं बुरा सङ्ग त्याग दे, तथा जितने भी भगवद् विमुख जन हैं उन सब को भी त्याग दे। इन विमुखों को इसलिये त्याग कि ये लोग झूठ बोलने में तो सुख मानते, निडर और निःशंक होकर दोष (अपराध) करते और सन्त-महात्माओं को (जो विरक्त और अकिञ्चन होते हैं, उन्हें) गरीब (भिखारी) मानते हैं। इन अभिमानी, गर्व से भरे हुए, लोभ और मद से अत्यन्त मतवाले दुष्टों को तू दूर से ही त्याग दे और श्रीहरि राधा के भजन करने वाले भक्तों का ही भजन सेवन कर।

टिप्पणी– ''विमुख तजौ सब कोइ''–

प्रेम, भक्ति एवं परमार्थ के मार्ग में सबसे बड़ा विघ्न है – कुसङ्ग। एक क्षण मात्र का कुसङ्ग जीवन भर किये सत्संग को धो देता और बुद्धि को पतन की ओर प्रेरित कर देता है। अतः अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्ति का प्रधान कर्त्तव्य है कि कुसङ्ग से बचे–विमुखों का सङ्ग भूल कर भी न करे। श्रीनारद जी ने कहा है–

''दुःसंग सर्वथैव त्याज्यः''

अर्थात् ''दुःसङ्ग सर्वथा ही त्याज्य है।''
और गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है–

को न कुसंगति पाइ नसाई। रहै न नीच मतें चतुराई॥

श्री सूरदास जी भी यही कहते हैं–

तजौ मन हरि विमुखन कौ संग।
जाके संग कुमति उपजत है परत भजन में भंग॥

इसी प्रकार 'हितापदेश' ने हितमय उपदेश दिया है–

न स्थातव्यं न गन्तव्यं दुर्जनेन समं क्वचित्।

अर्थात् ''दुष्ट के साथ न कभी बैठना चाहिए और न चलना ही चाहिये।''

साधक तो इस दुःसंग से ऐसा डरता रहे जिस तरह मृग, सिंह से डरता रहता है।

मूल– (५)

श्रीराधावल्लभ भजत भजि, भली भली सब होइ।
जिते विनायक सुभ-असुभ, बिघ्न करैं नहिं कोइ॥
बिघ्न करै नहिं कोइ, डरैं कलि काल कष्ट भय।
हरैं सकल संताप, हरषि हरि नाम जपत जय॥

श्रीवृंदावन नित्य केलि, कल करत अगाधा।
हित हरिवंश किसोर, भजत भजि श्रीहरिराधा।।

भावार्थ–

अरे भाई ! तू श्रीराधावल्लभ के भक्तों का ही भजन सेवन कर। इससे तेरा सब भला ही भला होगा और जितने भी विनायक, शुभ और अशुभ आदि हैं वे कोई भी तुझे विघ्न नहीं पहुँचा सकते। ये विनायक आदि बिघ्न तो पहुँचावेंगे नहीं और साथ-साथ तुझसे कलियुग के धर्म–कलह, कष्ट, काल आदि भय मानेंगे। भक्तजन तेरे समस्त सन्तापों का हरण कर लेंगे। हर्ष पूर्वक श्रीहरि का नाम जपते-गाते तेरी सर्वत्र जय ही होगी। जो श्रीवृन्दावन में नित्य निरन्तर अगाध एवं परम सुन्दर केलि करते रहते हैं, उन श्रीहित-हरिवंश-किशोर श्रीहरि राधा का भजन करने वाले भक्तों का तू भजन कर।

टिप्पणी–

"विघ्न करैं नहिं कोइ"–

श्रीराधावल्लभ लालजी के भक्तों का सेवन करने वाले– साधु सेवी पुरुष के निकट प्रेत, भूत, पिशाच, विनायक, कोटरा, रेवती, पूतना आदि कोई फटक भी नहीं सकते। उन साधु भक्तों सेवकों के समस्त पाप-पुण्य क्षीण हो जाते हैं और वे त्रिगुणातीत होकर भगवत्कृपा से पूर्ण और परम पावन हो जाते हैं। इनकी महिमा श्री व्यास जी ने यों गायी है–

हरि भक्तन के निकट न आवत प्रेम पितर जमदूत।
जोगी भोगी संन्यासी अरु पंडित मुंडित धूत।।
ग्रह गन्नेस सुरेस सिवा-सिव डर करि भाजत भूत।
सिधि निधि विधि निषेध हरि नामहि डरपत रहत कपूत।।

सुख दुख पाप पुण्य मायामय ईति भीति आकूत।
सबकी आस-त्रास तजि व्यासहिं भावत भक्त सपूत॥

जबकि ये सब विनायक भूत प्रेतादि हरि-भक्तों से डरते हैं, तो बिघ्न क्या पहुँचा सकेंगे ?

मूल– (६)

श्रीराधाबल्लभ भजत भजि, भली भली सब होइ।
त्रिविध ताप नासैं सकल, सब सुख संपति होइ॥
सब सुख संपति होइ, होइ हरिवंश चरन रति।
होइ विषय विष नास, होइ वृंदावन बसि गति॥
होइ सुदृढ़ सतसंग, होइ रस रीति अगाधा।
होइ सुजस जग प्रगट, होइ पद प्रीति सु राधा॥

भावार्थ–

अरे भैय्या ! श्रीराधावल्लभ के भक्तों का भजन करने से तेरा तो सब प्रकार से भला होगा तथा तेरे तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) ताप ही क्या और भी सब प्रकार के शोक नाश को प्राप्त होकर तुझे समस्त सुख एवं सम्पत्ति भी प्राप्त होगी। सब सम्पत्ति प्राप्त होकर भी तुझे श्रीहरिवंश चरणों की प्रीति प्राप्त होगी, विषय भोग रूप विषों का नाश होगा और श्रीवृन्दावन का निवास प्राप्त होकर तेरी उत्तम गति (नित्य-विहार में प्राप्ति) भी होगी। तुझे सुदृढ़ सत्संग की प्राप्ति होगी और उसके फल स्वरूप युगल-सरकार की अगाध रस-रीति भी अनुभव होगी। तेरा सुयश संसार में फैल जायगा और श्रीराधा के सुन्दर-चरणों में तेरी अपार प्रीति हो जायगी। (यह है, श्रीराधावल्लभ के भक्तों के भजन का फल!)

टिप्पणी–

(i) ''सब सुख सम्पति होइ''–

'सुख-सम्पत्ति' का स्थूल अर्थ स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रभुता, ऐश्वर्य आदि है। यह सुख सम्पत्ति भक्तों को मिले यह साधारण बात है। जो सुख सम्प्त्ति श्रीराधावल्लभ लाल का सेवन करने वाले भक्तों को मिलती है वही भक्तों का सेवन करने वालों को भी स्वाभाविक ही मिल जाती है। अत: यहाँ 'सब सुख सम्पत्ति' का अर्थ कुछ विशेष है। यहाँ 'सब सुख सम्पत्ति' का अर्थ नित्य विहार रूप महान् सुख महान् सम्पत्ति ऐसा करना चाहिये। क्योंकि श्रीसेवकजी ने अन्यत्र भी 'सुख-सम्पत्ति' का अर्थ लौकिक भोग सुख धनादि न करके दिव्य विहार ही किया है और उस 'सुख-सम्पत्ति' का मूल श्रीहरिवंश नाम को बताया है-

जब यह नाम हृदै आइहै। तब सब सुख सम्पत्ति पाइ है।।

'धन सम्पत्ति' का क्या अर्थ लिया है महात्मा कबीर ने? देखिये-

कबिरा सब जग निर्धना धनवंता नहिं कोइ।
धनवंता सो जानिये, नाम धनी जो होइ।।

'नाम' ही सच्चा धन है। अत: सेवकजी के सुख सम्पत्ति का भी अर्थ 'दिव्य धन -नित्य विहार' है।

(ii) ''होइ सुजस जग प्रगट''-

भगवद्भक्ति के सिवाय अन्य विषयों को लेकर जिस किसी का सुयश होता है, वह या तो अस्थायी होता है या अल्प, किन्तु भक्ति या भगवान् के सम्बन्ध से प्रकट होने वाला सुयश चिरायु और महान होता है। भक्त एवं सन्त-महात्माओं का सुयश पूर्ण चरित्र सबके लिये श्रवण करने योग्य, कथन करने योग्य और धारण करने योग्य होता है। वह आदरणीय, विश्व वन्द्य और कल्याणकारी होता है। वास्तव में सुयश नाम इसी का है। वैसे तो कितने ही और और सुयश काल के गाल में कब के समा गये।

(iii) ''होइ पद प्रीति सु राधा''–

भगवद्भक्तों की महिमा भगवान् से भी अधिक है। भगवान् अपने उपासक को अपनी भक्ति का दान करने में विलम्ब और कंजूसी भी कर सकते हैं पर संत महात्माओं की कृपा से वही प्रीति-भक्ति अनायास और उदारता पूर्वक मिलती देखी गयी है, अतः श्रीराधावल्लभ के चरणानुरागी रसिक-जनों के चरण-सेवन भजन से श्रीराधा चरणों की प्रीति मिलती है, तो क्या आश्चर्य ?

श्रीध्रुवदास जी ने तो संत कृपा को ही एकमात्र साधन और अवलम्ब बताया है, श्रीराधा-चरणानुराग की उत्पत्ति में–

रे मन रसिकन संग बिनु रंच न उपजै प्रेम।
या रस कौ साधन यहै जनि परसौ कछु नेम।।

मूल– (७)

श्रीराधाबल्लभ भजत भजि, भली-भली सब होइ।
भीर मिटै भट जमन की, भय-भंजन हरि सोइ।।
भय भंजन हरि सोइ, भरम भूल्यौ भटकत कति।
भगवत-भक्ति बिचारि, वेद भागौत प्रीति रति।।
भक्त चरन धरि भाव, तरत भव सिंधु अगाधा।
हित हरिवंश प्रसंस, भजत भजि श्रीहरि-राधा।।

भावार्थ–

श्रीराधावल्लभ के भक्तों का भजन-सेवन करते सब भला ही भला होगा, यमराज के योद्धा दूतों का भय मिट जायगा; क्योंकि वे श्रीहरि (राधा वल्लभ) भय का नाश करने वाले हैं (तू जिनके भक्तों का सेवन करता है।) जब तू यह जान गया कि वे श्रीहरि भय-भञ्जन हैं, तब भ्रम में भूला हुआ कहाँ भटकता फिरता है? भगवद्भक्ति का विचार

मनन कर, वेद एवं श्रीमद्भागवत में वर्णित प्रीति में रति कर अर्थात् श्रीमद्भागवत में कही गई नवधा या प्रेम लक्षणा की रीति से श्रीराधा वल्लभ एवं उनके रसिक अनन्य भक्तों से प्रेम कर, और भक्तों के चरणों में भाव रख करके इस अगाध संसार-सागर को क्यों नहीं पार कर जाता? अरे! जिन भक्तों की प्रशंसा श्रीहरिवंश चन्द्र ने भी की है, तू राधावल्लभ के उन भक्तों का ही सेवन कर।

टिप्पणी— "हित हरिवंश प्रसंस"—

रसिकाचार्य श्रीहित हरिवंश चन्द्र महाप्रभु ने रसिक भक्तों की प्रशंसा [१] में अनेकों वाक्य कहे हैं। यहाँ दो एक वाक्य प्रमाण के लिये उपस्थित किये जाते हैं—

यह जिय जानि स्याम-स्यामा पद कमल संगी सिर नायौ।

—हित चौरासी (पद- ५९, अन्तिम पंक्ति)

सर्वाश्चर्य्य गतिं गता रसमयी तेभ्यो महद्भयो नमः।

—राधा-सुधानिधि-श्लोक ८०

अर्थात् "सब प्रकार से आश्चर्य पूर्ण रसमयी गति को प्राप्त हुए उन महापुरुषों को नमस्कार है।"

इसी प्रकार—

श्रीराधिकां निजविटेन सहालपन्तीं
शोणाधर प्रसमरच्छवि मञ्जरीकाम्।
सिन्दूर संवलित मौक्तिक पंक्ति शोभां
यो भावयेद्दशन कुन्दवतीं स धन्यः॥

—श्रीराधा सुधानिधि-श्लोक २८

---

१. इसके लिये श्रीराधा सुधानिधि श्लोक-संख्या ८०, ८१, ८२, ८४, १४६ देखिये।

अर्थात् ''श्रीप्रियाजी अपने प्रियतम श्रीलाल जी के साथ कुछ मधुर-वार्ता में संलग्न हैं, जिससे उनके लाल लाल अधरों से सौन्दर्य राशि चारों ओर फैल रही है। अहा ! जिनके विशाल भाल पर सिन्दूर रञ्जित मोतियों की पंक्ति शोभायमान् है और दन्त-पंक्ति कुन्द कलियों जैसी है। ऐसी श्रीप्रिया जी के प्रति जो भावना-परायण हैं, वहीं धन्य हैं।''

मूल– (८)

श्रीराधावल्लभ भजत भजि, भली भली सब होइ।
अन्य देव सेवी सकल, चलत पुँजी सी खोइ॥
चलत पुँजी सी खोइ, रोइ झखि द्यौस गँवावहिं।
सोइ छपत सब रैन, जोइ कपि सम जु नचावहिं॥
भोइ विषम विष विषय, कोई सतगुरु नहिं लाधा।
धोइ सकल कलि-कलुष, दोइ भजि श्रीहरि राधा॥

भावार्थ–

अरे भाई! श्रीराधावल्लभ के भक्तों का भजन करने से तेरा सर्वविध मंगल ही होगा। अन्य देवताओं का सेवन करने वाले अन्त में इस संसार से अपनी पूँजी खोकर चले जाते हैं। (उनके साथ में कुछ नहीं जाता; क्योंकि उन्होंने सकाम भाव से लौकिक भोग ही देवताओं से प्राप्त किये थे, सो भोग कर ज्यों के त्यों रीते–भक्ति रहित चले जाते हैं।) वे अन्त काल में पूँजी खोकर तो जाते ही हैं, वरं जीवन में भी रो–झींख कर अपने दिन गमाते हैं, सारी रात सोकर नींद में व्यतीत करते हैं और उन्हें स्त्रियाँ अपना वशवर्त्ती बनाकर बन्दर की तरह नचाती हैं। उनका चित्त विषम (भीषण) विषय-रूपी विष से व्याप्त हो जाता है और अन्त तक वे किसी सद्गुरु की प्राप्ति नहीं कर पाते। अतएव हे भाई! तू अन्य देव-सेवी लोगों की दशा देख सुनकर सचेत हो जा। श्री

हरि राधा केवल इन दोनों का भजन कर और समस्त कलि-कल्मषों (कलियुग के पापों) को धो डाल।

टिप्पणी-

(i) ''अन्य देव सेवी सकल चलत पुँजी सी खोइ''

जीव का आत्यन्तिक कल्याण केवल भगवान् की आराधना-उपासना से हो सकता है अन्य देवी-देवताओं से कदापि नहीं। हाँ, ये देवी-देवतागण भोग आदि अवश्य दे सकते हैं जबकि वे स्वयं मोक्ष से दूर हैं, तब दूसरों को कैसे दे सकते हैं? अतएव इन देवताओं के उपासक यदि जीवन रूपी अमूल्य निधि खोकर इस संसार से जाते हैं, तो ऐसा कहना क्या आश्चर्य है? भगवान् वेद-व्यास ने तो श्रीमद्‌भागवत महापुराण में आदि से अंत तक भक्ति-विहीन अन्य साधनों एवं अन्य देवताओं के बहिष्कार पूर्वक केवल शुद्ध सत्वमय भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना का समर्थन किया है-

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामो उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगन यजेत्पुरुषः परम्॥

- श्रीमद्भागवत २/३/१०

अर्थात् ''कोई व्यक्ति कामना रहित हो या समस्त कामनाओं से युक्त किंवा मोक्ष-कामी ही क्यों न हो बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि तीव्र भक्ति-योग के द्वारा परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण का ही आराधन करे।''

शुद्ध भगवदुपासना ही मनुष्यों के लिये कल्याण प्रद है। सकामता पूर्वक अन्य अन्य देवताओं की आराधना करने का खण्डन तो भगवान् श्रीकृष्ण ने भी श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में किया है-

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेन्य देवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्प मेधसाम्।
देवान्देवयजोयान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

–गीता अ० ७ श्लो० २०,२१,२३

अर्थात् हे अर्जुन! जो विषयासक्त पुरुष हैं, वे अपने स्वभाव-परवश उन-उन भोगों की कामनाओं से ज्ञान-भ्रष्ट होकर उन-उन नियमों को धारण करके (अर्थात् जिस देवता की पूजा के लिये जिस नियम को धारण करने की लोक में प्रसिद्धि है) अन्य-अन्य देवताओं का भजन करते हैं। जो-जो सकामी भक्त जिस-जिस देवता को श्रद्धा से पूजना चाहते हैं, मैं उस-उस उपासक की उसी देवता के प्रति श्रद्धा स्थिर कर देता हूँ किन्तु उन अल्प बुद्धि वालों का वह फल नाशवान् है। वे देव-पूजक उन्हीं देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।

देव-पूजा और पुण्यों का फल स्वर्ग क्षण-भङ्गुर एवं विनाशी है, इसे भी गीता ही प्रमाणित करती है–

त्रैविद्यामां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र लोक–
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देव भोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्त्यलोकं विशन्ति।

एवं त्रयीधर्ममनु प्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।

—गीता अ० ९ श्लोक २०/२१

अर्थात् "तीनों वेदों में विधान किये गये सकाम कर्मों के करने वाले, सोमरस के पीने वाले एवं पापों से पवित्र हुए पुरुष मुझे यज्ञों द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं वे अपने पुण्यों के फलस्वरूप इन्द्रलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं। उस विशाल स्वर्ग-सुख को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर वे मृत्यु लोक में गिरते हैं। इस प्रकार वेद-त्रयी के शरणागत सकामी लोग बारम्बार आवागमन को ही प्राप्त होते हैं।"

भगवान् श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य देवताओं का सेवन करने वाले लोग इहलोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट होकर अशान्ति को प्राप्त होते हैं। वे विषयी, कामी और नारी के क्रीड़ा-मृग व्यक्ति सद्गुरु की प्राप्ति से वञ्चित् रहे आते हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह अनन्य भाव से राधाधव श्रीकृष्ण की ही शरण ग्रहण करे और अन्य आश्रयों का परित्याग कर दे। स्वामी श्रीहरिदास जी महाराज आज्ञा देते हैं-

लोग तो भूलैं, भलैं भूलैं तुम मति भूलौ मालाधारी।
अपनौ पति छाँड़ि औरन सौ रति करै सो दारिन में दारी।।
श्याम कहत ते जीव मोते विमुख जिन दूसरी करि डारी।
कहि हरिदास जिन्हें जग्य देवता पितरन पै सरधा भारी।।

अतएव श्रीसेवकजी का यह कथन कि "अन्य देव सेवी सकल चलत पुँजी सी खोइ" यथार्थ है। बुद्धिमान् जन इस पर विचार करें और आचरण भी।

(ii) सद्गुरु–

'गुरु' का सामान्य अर्थ बड़ा या महान् है इस न्याय से माता, पिता, पूज्यजन ज्येष्ठ भ्राता आदि सभी गुरु हैं किन्तु परमार्थ-पथ में भगवत्सम्बन्ध करा देने वाले और भगवत प्राप्ति करा देने वाले श्रीसद्गुरु का ही स्थान अत्युच्च है। उन्हें ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भी बड़े एवं परब्रह्म कहा गया है, सद्गुरु एवं भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है–

आचार्य्यं मां विजानीयात्।

–श्रीमद्भागवत् एकादश स्कन्ध

अर्थात् ''आचार्य रूप मेरा ही है ऐसा जाने।''

और **'मर्त्यः मन्ये असन्मतिः'** अर्थात् मूर्ख लोग उन गुरुदेव को मरण धर्मा मनुष्य मान लेते हैं' ऐसा कहकर सद्गुरु को मनुष्य मानने वालों की निन्दा की गयी है।

यों तो सन्त एवं शास्त्रों के द्वारा गुरु नामधारी असज्जनों की निन्दा और तिरस्कार भी खूब किया गया है किन्तु वह सद्गुरु भगवान् के लिये नहीं है। यथा–

हरै सिष्य धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक में परई॥

–श्रीतुलसीदास जी

कन फुँकवा चिद् कासी लूटे।

– श्रीकबीरदास जी

गुरु लोभी सिष लालची परमारथहिं अदाँव।
दोनों डूबे बावरे चढ़ि पत्थर की नाँव॥

– श्रीचरनदास जी

गुरु भये घर घर में डोलैं नाम धनी को बैंचैं।
भाव भक्ति को लेस न जानैं पैसन ही को खैंचैं॥

– भगवत रसिक जी

इत्यादि वाक्य नामधारी गुरुओं के लिये हैं जो गुरुपने का व्यापार करके पैसे कमाते हैं। किन्तु परमार्थ–प्रदाता सद्‌गुरु का स्थान इससे कहीं ऊँचा है। इस कुण्डलियाँ में श्रीसेवकजी ने 'कोइ सद्‌गुरु नहिं लाधा' द्वारा इन्हीं भगवत्स्वरूप सद्‌गुरु की प्राप्ति न कर सकने की बात कही है।

मूल– (९)

राधावल्लभलाल बिनु, जीवन जनम अकत्थ।
बाधा सब कुल कर्म कृत, तुच्छ न लागै हत्थ॥
तुच्छ न लागै हत्थ, सत्थ समरथ न वियौ तब।
माथ धुनत हरि विमुख, संग जम–पथ चलत जब॥
गाथ विमल गुन गान, कत्थ जस श्रवन अगाधा।
नाथ अनाथनि हित, समर्थ मोहन श्रीराधा॥

भावार्थ–

श्रीराधावल्लभलाल के बिना जीवन और जन्म दोनों अकृतकार्य (व्यर्थ) हैं। सारे कुलोचित–कर्म और अन्य कर्म भी बाधा स्वरूप और तुच्छ हैं; अन्त में सहायक सिद्ध नहीं होते। अरे भाई! ये जब तुच्छ हैं, यहीं छूट जाते हैं और फिर कोई ऐसा दूसरा नहीं रहता जो समर्थ हो, तेरा साथी हो और तुझे (या उन हरि–विमुख जनों को) अपना सिर पीटते हुए, यमदूतों के साथ संयमनी पुरी के मार्ग में चलना ही पड़ता है तब तू [इन कुल कर्मों को छोड़कर] श्रीराधामोहन के निर्मल चरित्रों एवं गुणों की गाथा के गीत क्यों नहीं गाता। अरे! उन्हीं का कथन कर, उन्हीं का श्रवण कर क्योंकि वे समर्थ श्रीराधामोहन ही समस्त अनाथों के नाथ हैं!!

टिप्पणी–

(i) **''राधावल्लभलाल बिनु जीवन जनम अकत्थ''–**

मनुष्य जीवन का पवित्र और महान् लक्ष्य प्रभु चरणों की प्राप्ति है। जो लोग इस लक्ष्य को भुलाकर तुच्छ सुख-भोग, स्वर्गादि लोक किंवा अन्यान्य धर्मों के पालन में इस अमूल्य जीवन को व्यतीत करते हैं, वे मानों इस उत्तम मानव-जीवन को व्यर्थ कर रहे हैं। मानव-जीवन के पवित्र लक्ष्य भगवत्प्राप्ति से वञ्चित लोगों की शास्त्रों ने निन्दा की है-

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान्कामानर्हते विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्वं
शुद्ध्येद्यस्मात्ब्रह्म सौख्यं त्वनन्तम्॥

-श्रीमद्भागवत ५/५/१

अर्थात् [श्रीऋषभदेवजी अपने पुत्रों से कहते हैं-] "हे पुत्रो! इस मर्त्यलोक में मनुष्य देह पाकर उसके लिये यह उचित नहीं है कि इससे विष्ठा खाने वाले सूकरादि को भी सुलभ दुःखमय विषय भोगों में फँसा रहे, इस शरीर से तो तप का ही आचरण करना चाहिये जिससे अपना अन्तःकरण शुद्ध होकर अनन्त ब्रह्मानन्दमय प्रभु की प्राप्ति हो जाय।"

अस्तु; यदि किसी व्यक्ति के हृदय में भक्ति तो नहीं है किन्तु अनेकों गुण हैं तो वे गुण भी भक्ति-विहीन होने से सब व्यर्थ ही हैं; क्योंकि अनित्य होने से सत्पुरुष उनका सम्मान नहीं करते। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है-

जो पै रहनि राम सौं नाँहीं।
तौ नर खर कूकर सूकर सम वृथा जियत जग माँहीं॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सबही के।
मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय-पी के॥

सूर, सुजान, सुपूत, सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।
बिनु हरि-भजन इँनारुन के फल तजत नहीं करुआई॥
कीरति कुल करतूति भूति भल सील सरूप सलोने।
तुलसी प्रभु-अनुराग रहित जस सालन साग अलोने॥

तात्पर्य यह कि भगवद्भक्ति के बिना मानव जीवन और जन्म सचमुच ही व्यर्थ है।

(ii) "बाधा सब कुल कर्म कृत"–

कुलोचित कर्म-धर्म आदि सब शुद्ध भगवद्भक्ति में बाधा ही हैं; क्योंकि कर्म-धर्मों में निष्ठा बने रहने से हृदय में शुद्ध भक्ति का प्रकाश नहीं हो पाता। और फिर जो लोग भगवद्भक्ति को छोड़कर केवल कर्मों में जकड़ रहे हैं; उनकी तो कहना ही क्या है? वे तो वास्तविक सुख से वञ्चित् होकर मृग तृष्णा में भटक रहे हैं। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया–

त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

–गीता

अर्थात् "अर्जुन! वेद तीनों गुणों से लिप्त हैं तू तो तीनों गुणों के ऊपर उठ। वेदातीत हो जा!"

इन तीनों गुणों से ऊपर उठने के लिये सारे लौकिक और वैदिक धर्मों का परित्याग करना होगा इसलिये आपने फिर स्पष्ट आज्ञा की–

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज!

–गीता

अर्थात् "अर्जुन! तू समस्त धर्मों का परित्याग कर दे और केवल एक मेरी (भगवान् श्रीकृष्ण की) ही शरण में आ जा।"

सब धर्मों के परित्याग पूर्वक केवल अपनी ही शरण में आने का आदेश क्यों देते है? इसलिये कि भगवच्छरणागति के सिवाय अन्य

सारे धर्म तुच्छ और अल्प हैं। महान् अभय और पूर्ण धर्म है तो केवल भगवान् श्रीकृष्ण की शरणागति ही। इसी आशय का उपदेश इस कुण्डलिया में श्रीसेवकजी ने दिया है।

(१०)

जो लोग भक्ति और भगवद्धर्म की महत्ता समझ कर भी उसे ग्रहण नहीं कर पाते उन कर्मठ और सशल्य लोगों का परिचय कराते हैं-

मूल—

कर्मठ कठिन ससल्य नित सोचत सीस धुनंत।
श्रीहरिवंश जु उद्धरी सोई रसरीति सुनंत॥
सोइ रसरीति सुनंत अंत अनसहन करत सब।
जब जब जियनि विचारि सार मानत मन मन तब॥
छिन-छिन लोलुप चित्त, समुझि छाँड़त तातैं सठ।
करत न संत समाज, जिते अभिमानी कर्मठ॥१०॥

भावार्थ—

जब कठोर क़र्मकाण्डी और सशल्य (बहुत देवी देवताओं के पूजने वाले) लोग श्रीहित हरिवंश चन्द्र के द्वारा प्रकट की गयी उस रीति का श्रवण करते हैं, तो अपनी कर्मठता और भटकन के लिये पश्चात्ताप करते हुए सिर पीटने लगते हैं। फिर कभी (अहंकार वश) उस रस रीति (की उत्तमता) को सुन समझकर भी उसके प्रति असहनीय भाव (विद्वेष) ले आते और अन्ततः विपरीत सा करने लगते हैं। किन्तु जब कभी सुस्थिर चित्त से विचार करते हैं तो मन ही मन रस रीति को ही सार मान कर उसकी बड़ाई भी करते हैं। ऐसा करने पर भी वे हैं तो वास्तव में लोलुप चित्त कर्मठ ही, अतः समझ-बूझ कर भी इस दिव्य रस रीति का त्याग कर देते हैं और अपनी कर्मठता में फँसे

रहते हैं। इस प्रकार जितने भी अभिमानी कर्मठ (कर्म काण्ड में घोर निष्ठा वाले) हैं, वे (प्रेम-भक्ति सम्पन्न) सन्तों का सङ्ग नहीं करते।

टिप्पणी–

(१) कर्मठ–परमार्थ की प्राप्ति के लिये वेदों ने कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीन सोपानों का वर्णन किया है। इनमें से कर्म, साधक को एक श्रृंखला बद्ध कार्यों में संयोजित करने के लिये है, न कि कर्म परम श्रेय का प्राप्त कराने वाला है। किन्तु अज्ञानी जन कर्म को ही प्रधान मान कर नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य इन त्रिविध कर्मों में आसक्ति पूर्वक फँस जाते हैं। वे समस्त वेद, उपनिषद् पुराण एवं शास्त्रों का सार इस कर्म को ही समझ बैठते हैं। यही लोग कर्मठ कहलाते हैं। श्रीमद्भागवत में राजा प्राचीनवर्हि का घोर कर्मठ के रूप में वर्णन किया गया है। श्रुतियों में भी ऐसे कर्मठों का वर्णन है और वहीं ज्ञानी ऋषियों द्वारा उनकी निन्दा का प्रसंग भी है। ये कर्मठ असार ग्राही नीरस और तुष-संग्रही होते हैं। इन्हें न तो उपासना भक्ति का ठीक बोध होता है और न ब्रह्मज्ञान का ही, ये बेचारे रस-रीति को तो समझेंगे ही क्या?

(२) सशल्य–वह है जो भगवान् श्रीकृष्ण को इष्ट मान कर उनके नाम की दीक्षा-संस्कार कराके भी अन्यान्य देवी देवताओं की उपासना आराधना करता रहता है। स्वामी श्रीचतुर्भुजदासजी ने अपने ग्रन्थ द्वादश-यश में सशल्यों के लिये लिखा है–

दीक्षा मंत्र जु ग्रहैं कृष्ण किंकर जु कहावैं।
हरि-आराधन करैं आन देवनि पुनि धावैं।।
कर्म धर्म कुल काज काल कबहूँ न बिसारैं।
संतनि सौं स्तब्ध काम मत क्रिया पसारैं।।

ये ससल्य सब निरखि कैं भूलि न संग ससल्य करि।
हरि-भजन न उर चतुर्भुज रहै अरु सहै मारि जमद्वार परि।।

(३) छाँड़त ताते सठ– वैसे तो कर्मठ अपनी कर्म सम्बन्धी निष्ठा पर ही दृढ़ रहते हैं किन्तु कभी कभी सद्बुद्धि आ जाने से भक्ति मार्ग की ओर भी झुक से जाते हैं और श्रीहरिवंश चन्द्र के द्वारा प्रकाशित रस-रीति की सराहना भी कर जाते हैं परन्तु वे अपनी सकामता और लोलुपता के कारण रस-रीति की श्रेष्ठता को समझ बूझकर भी छोड़ देते हैं; इसीलिये उनके लिये 'शठ' विशेषण दिया गया है। यदि कदाचित भक्ति और रस रीति की श्रेष्ठता को समझ ही न पाते तो 'मूर्ख' कहे जाते, किंतु कुछ सद्बुद्धि होने और रस-रीति की श्रेष्ठता के समझ सकने के ही कारण 'शठ' मूर्ख से कुछ अच्छे कहे गये। भक्ति-विहीन इन कर्मठ एवं सशल्यों की यह दशा है–

भगति बिनु हैं सब लोग निखट्टू।
आपस में लिरबे भिरिवे कौं जैसे जंगी टट्टू।।
इनकी मति यौं भ्रमत रहत है जैसे लोलुप लट्टू।
नागरिया वे जग में उछरैं जैसे नट के बट्टू।।

कर्मठों के स्वरूप की झाँकी भी किसी भक्त ने कितनी सुन्दर करायी है–

ज्ञानी अल्हड़ भक्त बावले योगी बड़े निखट्टू।
कर्मकाण्डी ऐसे डोलैं ज्यौं भाड़े के टट्टू।।

(४) करत न संत समाज जिते अभिमानी कर्मठ–

ये अभिमानी कर्मठ और सशल्य लोग सत्संग नहीं करते। यदि कदाचित् सत्संग करने लग जायें, तो अवश्य भक्ति रस का आस्वादन कर सकते हैं; क्योंकि 'शठ हैं 'मूर्ख' नहीं। शठों के सुधार की गुंजाइश है–

सठ सुधरहिं सत संगति पाई।
पारस परस कुधातु सुहाई।।

किन्तु–

मूरख हृदै न चेत जौ गुरु मिलहिं विरंचि सम।
फूलै फरै न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।।

अतएव, जिन उपासकों या साधकों में कर्मठता या सशल्यता के न्यूनाधिक लक्षण दीख रहे हों, वह हताश न होकर रसिक अनन्य भक्तों का सत्सङ्ग करके उन कर्मठता आदि का निःशेष त्याग कर दें, क्योंकि सत्संग से क्या नहीं हो सकता?

कह न होइ सत्संग से देखौ तिल अरु तेल।
मोल तोल सब फिरि गयो पायो नाम फुलेल।।

–श्रीध्रुवदास जी

और भी–

मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकहु मराला।।
सुनि आचरज करै जनि कोई। सत संगति महिमा नहिं गोई।।

–गोस्वामी तुलसीदासजी

तात्पर्य यह कि संत–समाज सबके लिये हितकर है।

(११)

दसवें छन्द में अभक्त कर्मठों का स्वरूप बताया गया अब इसमें भावुक भक्तों की रहनी, भावना और उपासना आदि का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है–

मूल–

हित हरिवंश प्रसंस मन, नित सेवन विश्राम।
चित निषेध विधि सुधि नहीं, वितु संचित निधि नाम।।
वितु संचित निधि नाम, काम सुमिरन दासंतन।
जाम घटी न विलंब, बाम–कृत करत निकट जन।।

ग्राम पंथ आरन्य, दाम दृढ़ प्रेम ग्रथित नित।
ता मत रत सुख रासि, बाम दृश नव किसोर हित॥११॥

भावार्थ–

अनन्य रसिक जन सदा अपने मन ही मन श्रीहरिवंश के रूप एवं गुणों की प्रसंसा और निरन्तर उनकी सेवन–भक्ति में ही विश्राम करते अर्थात् स्थित रहते हैं। उनके चित्त में न तो विधि मार्ग की सुधि है और न निषेध की ही। वे तो नाम–निधि रूप परम धन का ही सञ्चय करते रहते हैं। उनका कार्य है भगवद् स्मरण और भगवद् सेवा। वे इस सेवा–कार्य में कभी घड़ी पहर का भी विलम्ब न करके अत्यन्त निकट जन–(दासी) के भाव के समस्त दासी–कृत्य (सेवायें) करते रहते हैं। वे ग्राम में, मार्ग में, वन–पर्वत में सर्वत्र एक प्रेम की ही दृढ़ डोरी से सर्वदा बँधे रहते हैं। इस प्रकार सुख की राशि वाम–दृशा श्रीप्रिया जी एवं नव किशोर हित श्री लाल जी के सुख–चिन्तन के विचार में ही ये रसिक जन सदा रत रहते हैं, (अर्थात् सदा सेवा के ही विचार में मग्न रहते हैं।)

टिप्पणी–

इस छन्द में सेवक जी ने रसिक साधक के लिये श्री हरिवंश नाम रूपी परम धन के सञ्चय और अष्टयाम सेवा परिचर्या के प्रकट और अप्रकट दोनों रूपों के करते रहने का आदेश दिया है।

(१२)

इस छन्द में सेवक जी श्रीराधा–परत्व पूर्वक श्रीवृन्दावन के अविचल विहार की प्रारंभिक रूप रेखा का दिग्दर्शन कराते हैं कि युगल सरकार किस प्रकार स्वच्छन्द भाव से अपनी क्रीड़ा सम्पन्न करते हैं–

मूल–

श्रीराधा आनन कमल, हरि अलि नित सेवंत।
नव नव रति हरिवंश हित, वृंदाविपिन बसंत॥

वृंदाविपिन बसंत, परस्पर बाहु दंड धरि।
चलत चरन गति मत्त, करिनि गजराज गर्व भरि॥
कुंज भवन नित केलि, करत नव नवल अगाधा।
नाना काम प्रसंग, करत मिलि हरि श्रीराधा॥१२॥

भावार्थ–

श्रीहरि रूपी भ्रमर श्रीराधा–मुख कमल का निरन्तर सेवन करता रहता है, जहाँ दोनों के बीच में नित्य प्रति नव–नवायमान् रति (प्रीति) के रूप में स्वयं श्रीहित हरिवंश ही हैं। यह क्रीड़ा नित्य वृन्दावन में होती है, जहाँ सदा ही वसन्त छाया रहता है। इस वासन्तिक श्रीवृन्दावन में युगल–किशोर परस्पर में गलबहियाँ दिये मतवाली गति से पादविन्यास करते हुए समर्थ गजराज एवं मत्त करिणि (हथिनी) की भाँति झूमते चलते हैं। इसी प्रकार निरन्तर नव निकुञ्ज भवन में श्रीहरि और श्रीराधा दोनों मिलकर नाना प्रकार के काम–क्रीड़ा प्रसङ्ग (संयोग) और नित्य नूतन गंभीर क्रीड़ाएँ करते है।

(१३)

इस छन्द में 'नाना काम प्रसङ्ग' के स्पष्ट रूप शय्या–विहार का संकेत करते हैं–

मूल–

मुख विहँस हरिवंश हित, रुख रस रासि प्रवीन।
सुख सागर नागर गुरू, पुहुप सैंन आसीन॥
पुहुप सैंन आसीन, कीन निजु प्रेम केलि बस।
पीन उरज वर परसि, भीन नव सुरत रंग रस॥
खीन निरखि मद मदन दीन, पावत जु विलखि दुख।
मीनकेतु निर्जित सु लीन, प्रिय निरखि विहँसि मुख॥१३॥

भावार्थ–

रस राशि प्रवीण युगल किशोर को देखकर श्रीहित हरिवंश हँस पड़े। श्रीहित हरिवंश* ने देखा कि सुख-सागर स्वरूप चतुर शिरोमणि युगल किशोर पुष्प-शय्या पर विराजमान् हैं। और वे अपनी स्वयं की प्रेम-क्रीड़ा के वशीभूत हो रहे हैं। प्रियतम ने प्रिया के पुष्ट एवं श्रेष्ठ उरोजों का स्पर्श किया और दोनों नव-सुरत-आनन्द के रस में सराबोर हो गये। दोनों की यह सुरतानन्दमयी दशा देखकर स्वयं कामदेव का अहंकार भी क्षीण हो गया और वह दीन होकर बहुत प्रकार से व्याकुल हो दु:ख पाने लगा। अपने युगल-प्रियतम की कामदेव को विजय करने की स्थिति किंवा काम के विलखने (दीन होने की दशा) का दर्शन करके श्रीहित हरिवंश चन्द्र हँस उठे।

टिप्पणी– **''मीनकेत निर्जित''–**

अर्थात् ''युगल किशोर ने कामदेव को जीत लिया।'' इस कथन में यह दिखाया गया है कि युगल किशोर की प्रेम-क्रीड़ा दिव्य है, लौकिक काम-क्रीड़ा नहीं। यह लीला काम-क्रीड़ा तो होगी ही क्यों कर, वरं इसके श्रवण, वर्णन और मनन से कामियों के हृदय से काम विकार का नाश होकर उनका अन्त: करण पवित्र हो जाता है; जैसा कि श्रीमद्भागवत में रास-लीला की फल-स्तुति में दिया गया है–

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणू यादथ वर्णयेद्यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यऽचिरेण धीरः।।

–श्रीमद्भागवत १०/३३/४०

---

* इस प्रसंग में श्रीहित हरिवंश चन्द्र का स्वरूप आचार्य न मान कर श्रीहित सजनि मानना चाहिये।

अर्थात् ''जो धीर पुरुष ब्रज बालाओं के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के इस रास-विहार की कथा को श्रद्धापूर्वक बार-बार सुनेगा या कहेगा, वह शीघ्र ही भगवान् की पराभक्ति लाभ कर हृदय के रोग रूप काम-विकार से मुक्त हो जायगा।''

इसी तरह रसिकाचार्य पाद श्रीहरिवंशचन्द्र महाप्रभु ने श्रीमद्चतुरासी जी के पद संख्या १२ में रास लीला के वर्णन के उपरान्त फलस्तुति में कहा है-

नरवाहन प्रभु निहारि लोचन भरि घोष नारि-
नख सिख सौंदर्य काम दुख निकंदिनी।।

और आपके द्वारा प्रकटित दिव्य रस विहार पदावली 'हित चौरासी' के फल-स्तुति में गोस्वामी श्रीवनचन्द्रजी ने बताया है-

भव जल निधि को नाव काम पावक कौ पानी।

अर्थात् 'यह रस-विहार काम-पावक को बुझा देने के लिये पानी है।' तब फिर सेवकजी का यह कथन कि युगल ने काम को जीत लिया उचित ही तो है, क्योंकि युगल किशोर तो काम के काम हैं।

(१४)

श्रीहित हरिवंशचन्द्र युगल किशोर की रसमयी सुरत-केलि के अवसर पर भी अपने 'सजनि' स्वरूप से उनके समीप निकुञ्ज-भवन में शोभित रहते हैं और 'हित' स्वरूप से दोनों के हृदय में व्याप्त होकर रस-क्रीड़ा सम्पन्न कराते हैं। अब इस विषय का परिचय दे रहे हैं-

मूल-

रस सागर हरिवंश हित लसत सरित वर तीर।
जस जग बिसद सुबिस्तरित बसत जु कुंज कुटीर।।

बसत जु कुंज कुटीर भीर नव रँग भामिनि भर।
चीर नील गौरांग सरस घन तन पीतांबर।।
धीर बहत दक्षिन समीर कल केलि करत अस।
नीरज सैंन सु रचित वीर वर सुरत रंग रस।।

भावार्थ–

रस के सागर श्रीहित हरिवंशचन्द्र [अपने निज स्वरूप सजनि भाव से] निरन्तर सरिताओं में श्रेष्ठ यमुनाजी के तीर पर कुञ्ज-कुटीर में निवास करते हुए शोभित रहते हैं; आपके पवित्र यश संसार में अच्छी तरह से व्याप्त हैं। आप उस कुञ्ज-कुटीर में निवास करते हैं, जहाँ नवरंग भामिनियों की भीड़ का प्रवाह सा रहा आता है। उन सबके मध्य में नील-दुकूल धारिणि गौरांगी श्रीप्रियाजी एवं सरस घन की सी कांति से पूर्ण, पीताम्बरधारी श्रीलालजी शोभा पाते हैं। उस समय श्रीवन में दक्षिण दिशा का शीतल एवं सुगन्धित पवन धीरे-धीरे बह रहा है और युगल किशोर कुछ ऐसी सुन्दर केलि करते हैं कि कमल-दलों से सुखद शय्या रचकर उस पर सुरत आनन्द रस के दोनों महान् योद्धा केलि मग्न हो जाते हैं।

टिप्पणी– ''रस सागर हरिवंश हित लसत सरित वर तीर''-

इस पंक्ति से यह स्पष्ट है कि श्रीहित हरिवंशचन्द्र नित्य-निरन्तर श्रीयमुना के पावन तट पर कुञ्ज कुटीर में निवास करते हैं जैसा कि पूर्व प्रसङ्ग में श्रीसेवक जी ने कहा है-

लता भवन सुख सीतल छहाँ,
श्रीहरिवंश रहत नित जहाँ;
तहाँ न वैभव आन की।

इस वाक्य से यह भी सूचित होता है कि श्रीहित हरिवंशचन्द्र ही निकुंज-विहार के पोषक, सम्पन्न कर्त्ता और अधिकारी जनों के लिये दाता हैं।

(१५)

अब वृन्दावन विहार के एक दूसरे अंग रास-क्रीड़ा एवं जल-विहार की झाँकी कराते हैं कि वह भी वंशी रूप आचार्य श्रीहित हरिवंशचन्द्र द्वारा पूर्ण होती है-

मूल-

पिय बिचित्र बन हरषि मन जिय जस बैंनु कुनंत।
तिय तरुन्नि सुनि तुष्ट धुनि कियौ तहाँ गवन तुरंत।।
कियौ तहाँ गवन तुरंत कंत मिलि बिलसत सर्वस।
तंतु रास मंडल जुरंत रस निर्त्त रंग रस।।
संतत सुर दुंदुभि बजंत, बरषंत सुमन लिय।
अंत केलि जल जनुकि मत्त, इभराट करिनि पिय।।

भावार्थ-

प्रियतम श्रीलालजी ने श्रीवृन्दावन की विचित्र शोभा देखकर प्रसन्न मन हो अपने हृदय-स्थित प्रिया यश का वेणु के द्वारा गान किया; तरुणी नारियों सखियों ने उस सुखमय ध्वनि का श्रवण किया और उन्होंने तुरन्त ही वहाँ (लालजी के समीप) गमन किया। वे प्रियतम से मिलकर अपने सर्वस्व दान पूर्वक विलास करने लगीं। श्रीवन में उस समय रसमय रासमण्डल एकत्र हुआ और रस पूर्ण नृत्य का आनन्द बरसने लगा। देवतागण निरन्तर दुन्दुभि बजाने लगे और मुग्ध होकर पुष्पों की वृष्टि करने लगे।

रास क्रीड़ा के पश्चात् अन्त में सब जल-क्रीड़ा के लिये जल में प्रवेश कर ऐसे क्रीड़ा करने लगे जैसे मतवाला हाथी अपनी प्रियतमा करिणियों से क्रीड़ा करता है।

टिप्पणी–

(i) इस छन्द में श्रीसेवक जी ने युगल किशोर के नित्य रास के अन्तर्गत महारास का वर्णन किया है। श्याम सुन्दर ने मुरली बजायी, जिसे सुनकर मुग्ध सखियाँ दौड़ी आ गयीं और फिर रासमण्डल की रचना हुई सबने मिलकर नृत्य गान किया। देवताओं ने दुन्दुभियाँ बजायीं पुष्पों की वर्षा की। पश्चात् सबने मिलकर जल विहार किया। जैसा कि श्रीहिताचार्य पाद ने अपने 'हित चौरासी' के तिरेसठवें पद में- मोहन मदन त्रिभंगी' इस रीति से वर्णन किया है। इसी रास का वर्णन श्रीमद्भागवत में भी है किन्तु भागवत वर्णित रास और श्रीहिताचार्य पाद एवं सेवकजी वर्णित रास में एक अन्तर है वह यह कि भागवत में श्रीकृष्ण अंतर्धान, गोपी विरह और श्रीकृष्ण की अनेक रूपता का वर्णन है पर इन्होंने श्रीकृष्ण का नित्य प्राकट्य, नित्य मिलन और सदा सर्वदा एक ही श्रीकृष्ण के द्वारा रास क्रीड़ा का विस्तार कराया है।

(ii) मत्त इभराट करिनि प्रिय–

मत्त गजराज एवं करिणि (हथिनी) की ही उपमा सर्वत्र विहार-केलियों में दी जाती है। इसका मुख्य प्रयोजन कुछ अंशों में इस प्रकार हो सकता है कि गज-गजी काम-प्रधान प्राणी हैं, अतः प्रेम-विहार का दिग्दर्शन कराने के लिये काम-प्रधान गज और गजी की सादृश्यता उदाहरण में ली जाती है। दूसरी बात यह है कि हाथी और हथिनी की समस्त केलियाँ मनुष्यों की ही भाँति सम्पन्न होती हैं अतः ये उदाहरण योग्य हैं। तीसरे यह प्राणी बुद्धिमान् और विहार-अनुरागी है। इसके अतिरिक्त इनमें निर्भयता, स्वच्छन्दता, बलशीलता, उन्माद आदि विहारोचित अनेक श्रेष्ठ गुण देखे जाते हैं। इसलिये करि-करिणि की उपमा सदा युगल सरकार से दी जाती है।

अब एक छन्द में शय्या विहार का वर्णन करते हैं-

मूल–

हरि बिहरत बन जुगल जनु, तड़ित सु बपु घन संग।
करि किसलय दल सैन भल, भरि अनुराग अभंग।।
भरि अनुराग अभंग, रंग अपने सचु पावत।
अंग-अंग सजि सुभट, जंग मनसिजहिं लजावत।।
पंगु दृष्टि ललितादि, तंक निरखत रंध्रनि करि।
मंग आदि रचि सिथिल, सजित उच्छंग धरत हरि।।

भावार्थ–

श्रीहरि श्रीवृन्दावन में विहार कर रहे हैं। उस समय युगल [श्रीराधावल्लभ लाल] ऐसे शोभा पा रहे हैं, जैसे दामिनि अपने सुन्दर वपु से मेघ के सङ्ग फब रही हो। दोनों अभङ्ग अनुराग से भरे हुए किशलय दलों की सुन्दर शय्या रचकर अपने ही में सुख और आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। वे दोनों सुरत-रण के सुयोद्धा अपने अङ्ग-अङ्गों से सजकर युद्ध में कामदेव को भी लजा रहे हैं। इस रस-युद्ध को ललितादि सखियाँ एकटक दृष्टि (थकित दृष्टि) से कुञ्ज भवन के छिद्रों से लगी हुई देख रही हैं और निकुंज भवन में श्रीलालजी प्रियतमा श्रीराधा की माँग रचकर शिथिल वेणी सजाते और उन्हें अपनी गोद में ले लेते हैं।

टिप्पणी– **'भरि अनुराग अभंग'**

युगल किशोर निरन्तर किसी अनिर्वचनीय एकरस प्रेम से आबद्ध हैं। उनके प्रेम का यह बन्धन कभी ढीला नहीं होता, न उसमें कभी क्षीणता या लघुता ही आती है। इनका प्रेम तो प्रतिक्षण बढ़ने वाला ही है। जो प्रेम, पहले क्षण में बढ़ता और दूसरे क्षण में उतर जाता है

वह तो प्रेम ही नहीं है। प्रेम वही है जो कभी घटे नहीं वरं प्रतिक्षण बढ़ता ही रहे। इसी भाव की सूचना के लिये इस में 'अभंग' पद दिया गया है कि युगल किशोर का प्रेम अभंग है; जैसे-

नित्य सहज दूलह कुँवर, दुलहिनि अति सुकुवाँरि।
नयौ चाव नित ही रहै, अद्भुत रूप निहारि॥

—श्रीध्रुवदास जी

(ii) 'रंग अपनैं सचु पावत'-

श्रीराधावल्लभ लाल केवल अपने ही आनन्द में सुखी हैं; इस पद का अर्थ यह है कि युगल किशोर की केलि वास्तव में आत्म रति या आत्मकेलि है। ये स्वयं अपने आपमें रमण करते हैं। युगल सरकार को कभी भी अपने नित्य विहार में बाह्य साधनों-उपकरणों की आवश्यकता नहीं है। इनका विहार अपने आपसे ही पूर्ण है। यही इसकी विलक्षणता, नित्यता, प्रेमरूपता और तद्रूपता है। इसीलिये श्रुति कहती है-

देंहश्वैक: क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्।

—श्रीराधातपिन्युपनिषद

अर्थात् ''जो राधा हैं, वही श्रीकृष्ण हैं। दोनों के ही दिव्य वपु रस-समुद्र हैं। ये दो होकर भी एक हैं। और ये दोनों एक होकर भी क्रीड़ा के लिये दो हो गये हैं।''

इस प्रकार सिद्ध है कि युगल सरकार सुरत क्रीड़ा के द्वारा अपने आत्मानन्द का ही सुखस्वादन करते हैं, इन्हें अन्य की अपेक्षा नहीं।

(१७)

पुन: एक छन्द के द्वारा रति-विहार का ही वर्णन करते हैं-

मूल-

स्याम सुभग तन बिपिन घन, धाम बिचित्र बनाइ।
तामैं संगम जुगल जन, काम-केलि सचु पाइ॥

काम केलि सचु पाइ, दाइ छल प्रियहिं रिझावत।
धाइ धरत उर अंक, भाइ गन कोक लजावत॥
चाइ चवग्गुन चतुर, राइ रस रति संग्रामहिं।
छाइ सुजस जग प्रगट, गाइ गुन जीवत स्यामहिं॥

भावार्थ–

परम सुन्दर वपु श्रीश्याम सुन्दर ने श्रीवृन्दावन की सघन स्थली में विचित्र निकुञ्ज धाम की रचना की। उसमें युगल श्रीप्रिया लाल का मिलन होकर दोनों ही काम–केलि का सुख प्राप्त कर रहे हैं। श्रीलालजी अपने छल और दावों से श्रीप्रियाजी को रिझा लेते हैं और लपक कर उन्हें अपनी गोद में लेकर हृदय से लगा लेते हैं। इस क्रीड़ा से मानों वे कोक–समूह को भी लज्जित कर रहे हैं। इस प्रकार चतुर–शिरोमणि श्रीलालजी रति रस के संग्राम में चौगुना चाव प्राप्त कर रहे हैं, श्रीश्यामा का सुयश संसार में प्रगट है और आपकी इस गुणावली का गानकर करके ही श्यामसुन्दर अपना जीवन धारण करते हैं।

(१८)

मानवती श्रीप्रियाजी को रासमण्डल में ले जाने के लिये सखी उद्दीपन विभाव– श्रीवृन्दावन का वर्णन कर रही है; जिसे सुनकर सम्भ्रम मानमयी श्रीप्रियाजी चल पड़ती हैं; जिससे उनका मान–जनित विरहज दुःख मिट जाता है। फिर माधव मास के सुहावने वासन्ती वन में समस्त नव–तरुणियों के साथ विहार सम्पन्न होता है।

मूल–

सरिता तट सुर द्रुम निकट, अलिता सुमन सुबास।
ललितादिक रसननि बिबस, चलि ता कुंज-निवास॥
चलि ता कुंज निवास, आस तव हित मग परषत।

रास स्थल उत्तम विलास, सचि मिलि मन हरषत॥
तासु बचन सुनि चित हुलास, विरहज दुख गलिता।
दासंतन कुल जुवति, मास माधव सुख सलिता॥

भावार्थ–

[मानवती श्रीप्रियाजी से हित सखी ने कहा– श्रीराधे! देखो; कितना सुन्दर सरित श्रेष्ठ] यमुना जी का तट है और उसी तट के निकट कल्प वृक्ष है; जिसके सुमनों की सुगंध से भ्रमरगण थकित हो रहे हैं। रास में ललिता आदि सखियाँ रस से विवश हो रही हैं, अतः आप भी उस कुञ्ज-निवास की ओर चलो। चलो! प्रियतम भी उस निकुञ्ज-निवास में आपकी ही आशा लगाये, उत्तम रासस्थल और उसके विलासों की रचना करके आपका मार्ग देख रहे हैं अतः आप भी प्रसन्न मन से चलकर उनसे मिलो।

[श्रीसेवकजी कहते हैं-] कि उस सखी के वचन सुन कर श्रीप्रियाजी के चित्त में उल्लास हो आया और विरह-जनित सारे दुःख मिट गये। समस्त दासीगणों में श्रेष्ठ युवति श्रीराधा, माधव (रूप वसन्त) मास में सुखमयी सलिता (नदी) की तरह हैं।

(१९)

इस छन्द में निकुञ्ज गत शय्या पर होती हुई ऐकान्तिक सुरत क्रीड़ा का वर्णन किया गया है जिसका दर्शन प्रातःकाल ललितादिक सखीगण कर रही हैं, सो भी चोरी-चोरी लता-भवन के रन्ध्रों से लगकर–

मूल–

परषत पुलिन सुलिन गिरा, करषत चित सुर घोर।
हरषत हित नित नवल रस, बरषत जुगल किसोर॥

बरषत जुगल किसोर, जोर नव कुंज सुरत-रन।
मोर चंद्र चय चलत, डोर कच सिथिल सुभग तन॥
चोर चित्त ललितादि, कोर रंध्रनि निजु निरषत।
थोर प्रीति अंतर न, भोर दम्पति छबि परषत॥

भावार्थ–

युगल किशोर की रसमयी वाणी जो यमुना पुलिन का स्पर्श कर रही है अर्थात् पुलिन पर गूँज रही है और युगल किशोर का घोर स्वर सखिजनों के चित्त का आकर्षण कर रहा है। युगल किशोर की रति क्रीड़ा को देखकर श्रीहित हर्षित हैं इस प्रकार युगल किशोर नित्य निरन्तर ही इस नूतन रस की वर्षा किया करते हैं। यह नव-किशोर जुगल जोड़ी नव निकुञ्ज भवन में निरन्तर सुरत-केलि (रण) किया करती है। केलि अवसर में श्रीलालजी की मोर चन्द्रिका खिसक पड़ती, श्रीप्रियाजी के केशों की डोर शिथिल हो जाती तथा युगल के सुन्दर वपु भी शिथिल हो जाते हैं। युगल की निज सखी ललिता आदि कुंज छिद्रों से चित्र की भाँति अविचल भाव से लगी हुई चोरी-चोरी (छिपकर) इस क्रीड़ा का दर्शन (अवलोकन) करती हैं; क्योंकि उनके हृदय में थोड़ी नहीं वरं अपार प्रीति है; इसीलिये [मत्सर रहित होकर] वे [तत्सुख भाव से] प्रात:काल दम्पति की छवि देखकर रही हैं और मुग्ध हो रही हैं।

टिप्पणी– **'निजु'**

यह 'निजु' शब्द 'स्व' के अर्थ में है अर्थात् ललिता आदि सखियाँ श्रीराधाकृष्ण युगल किशोर की आत्मरूपा हैं, वे युगल से भिन्न नहीं है, केवल लीला केलि रस विलास के लिये यह पृथकता दिखती है। अतएव वहाँ 'निजु' शब्द का अभिन्न आशय समझना चाहिये।

(२०)

अब बसंत केलि के रूपक से शय्या-गत सुरत विहार का वर्णन करते हैं-

मूल-रितु बसंत बन फल सुमन, चित प्रसंन नव कुंज।
हित दंपति रति कुसल मति, बितु संचित सुख-पुंज।।
बितु संचित सुख-पुंज, गुंज मधुकर सुनाद धुनि।
रुंज मृदंग उपंग धुंज, डफ झंझि ताल सुनि।।
मंजु जुवति रस-गान, लुंज इव खग तहाँ बिथकितु।
भुंजत रास-विलास कुंज नव, सचि बसंत रितु।।

भावार्थ-

श्रीवृन्दावन के नव-निकुञ्जों में फूल एवं फलों से परिपूर्ण बसन्त ऋतु छा रही है; जो चित्त को प्रसन्न करती है। ऐसे समय नव निकुञ्जों में हितमय दम्पति श्रीराधावल्लभलाल जो रति-कला में परम चतुर हैं, सुख-पुंज सम्पत्ति (रति-विहार) का एकत्रीकरण (संचयन) कर रहे हैं; जिसमें मधुकर की गुञ्जार-ध्वनि के साथ अन्यान्य सुन्दर नाद भी सुन रहे हैं। तरह-तरह के वाद्य यथा रुँझा (रुंज), मृदङ्ग, उपङ्ग, डफ, झाँझें और धुंज आदि ताल पूर्वक बज रहे हैं। साथ ही सुन्दरी युवती-जनों का रसमय गान हो रहा है, जिसे सुनकर पक्षीगण विशेष शिथिल होकर अचेतन से हो रहे हैं। इस प्रकार वसन्त ऋतु में नव-निकुञ्ज भवन की रचना करके युगल किशोर रास-विलास का सुख-भोग भोगते हैं।

टिप्पणी- **''हित दंपति रति कुसल''**

भगवान् श्रीकृष्ण मूर्त्तिमान् शृङ्गार रस हैं। इनकी प्रत्येक क्रीड़ा रस एवं विलास से ओतप्रोत है। रसिकाचार्य श्रीहित हरिवंशचन्द्र

महाप्रभुपाद ने जिस प्रणाली से रसोपासना बतायी है; वह अत्युच्च उज्ज्वल शृङ्गार-रस है। आपके इष्ट श्रीराधावल्लभ लाल नित्य सुरत-केलि कदम्ब विलासी, परम रसिक, नव किशोर और कोक आदि की कलाओं में परम निपुण हैं। आचार्यपाद ने अपने ग्रन्थों में अनेक प्रसङ्गों में यही बात प्रकट की है, यथा-

(i) कोक कला कुसल कुँवरि अति उदार री।

(ii) कोक विद्या विदित भाइ अभिनय निपुन
भ्रू विलासनि मकर-केतनि नचावै॥

(iii) सकल विद्या विदित रहसि 'हरिबंस हित'
मिलत नव कुंज वर स्याम बड़ भागु री॥

(iv) सुरत रंग के रस में भीनें नागरि नवल किसोर।

- इत्यादि

(२१)

श्रीवृन्दावन विहार अनादि एवं अनन्त है अतः अब इस छन्द में उसकी अनिर्वचनीयता प्रकट करते हैं-

मूल-

कहत कहत न कही परै, रहत जु मनहिं विचारि।
सहत-सहत बाढ़ै भगति, गृह तन गुरु हित गारि॥
गृह तन गुरु हित गारि, हार अपनी करि मानत।
चार वेद सुंमृति बिचारि,[१] क्रम कर्म न जानत॥
डारि अविद्या करि बिचार, चित हित हरिवंशहि।
नारि रसिक हृद बन बिहार, महिमा न परै कहि॥

---

१. पाठान्तर- जु चारि।

भावार्थ–

श्रीवृन्दावन विहार का वर्णन कथन में नहीं आता, केवल मन ही मन में विचार कर रह जाते हैं। भाव यह कि यह अनुभव गम्य विषय है जो वर्णन में नहीं आ सकता। इस रस–विहार के प्रति क्रमशः सहते सहते (धैर्य से) ही भक्ति बढ़ती है, अतएव इसके लिये साधक अपने घर कुटुम्ब, शरीर आदि को श्रीगुरु के चरणों में उनकी ही सेवा में गार दे - लगा दे। जो अपने आपको सम्पूर्ण रूप से सेवा में लगा देता है वह सदा अपनी हार ही मानता है अर्थात् चित्त में दीनता, सरलता, नम्रता आदि सद्भाव रखता है। [ऐसा अनन्य शरणागत रसिक भक्त] चार वेद(ऋक्, यजु, साम और अथर्व), सुन्दर स्मृतियाँ के विचार, वर्णाश्रम कर्म–धर्म आदि कुछ भी नहीं समझता अर्थात् समझकर भी उनकी ओर से बेपरवाह रहता है।

[श्रीसेवकजी कहते हैं– भाई! तू] अविद्या रूप महा मोह का परित्याग करके, विचारपूर्वक श्रीहरिवंश के चरणों में अपने चित्त को लगा– उन्हीं से प्रीति कर। [तभी इस विहार का अनुभव होगा।] अस्तु; यह नारि (श्रीप्रिया एवं सखिजन) और रसिक (श्रीलालजी) के रसमय सरोवर श्रीवृन्दावन का विहार अनन्त महिमामय है, वाणी द्वारा कहने में सर्वथा अशक्य है।

टिप्पणी– **''चार वेद सुस्मृति बिचारि क्रम कर्म न जानत''**

वेद, स्मृतियाँ कर्म–परम्परा एवं वर्णाश्रम की आसक्ति ये सभी भक्ति मार्ग या प्रेम–पथ के बन्धन और अन्तराय हैं। अतएव रसिक साधक जब अपने प्रभु के रस में उन्मत्त होता है तब अपने आप उसके ये बन्धन

छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उस रसिक के सामने अपने प्रियतम की महत्ता के सिवाय और किसी की महत्ता नहीं रह जाती। ऐसी दशा में श्रुति-स्मृति और बेचारे कर्म-धर्मों की क्या कथा है? ऐसे रसिक के स्वरूप का निरूपण रसिकाचार्य श्रीहित हरिवंश महाप्रभु पाद ने किया है-

न जानीते लोकं न च निगम जातं कुल परं-
परां वा नो जानत्यहह न च सतां चापि चरितम्।
रसं राधायामाभजति किल भावं व्रजमणौ-
रहस्ये तद्यस्य स्थितिरपि न साधारण गतिः॥)

– श्रीराधासुधानिधि,१४६

अर्थात् ''वे रसिक न तो लोक जानते न वेद और न वेद प्रतिपादित कुल परम्परा धर्म को ही। और तो और वे संत-चरितों से भी निस्पृह हैं अर्थात् हम संत कहे जायँ या बनें इसकी भी उन्हें अपेक्षा नहीं है वे तो सम्पूर्ण भावों से केवल श्रीराधा के रस का ही भजन करना जानते हैं।''

(२२)

प्रकरण के उपसंहार में ग्रन्थ के प्रतिपाद्य तत्व श्रीहित हरिवंशचन्द्र की महत्ता प्रदर्शित करते हुए स्वयं अपनी निष्ठा का परिचय देते हैं-

मूल-

सेवक श्रीहरिवंश के जग भ्राजत गुन गाइ।
निसिदिन श्रीहरिवंश हित हरषि चरन चित लाइ॥
हरषि चरन चित लाइ जपत हरिवंश गिरा-जस।
मनसि-बचसि चित लाइ जपत हरिवंश नाम-जस॥

श्री हरिवंश प्रताप नाम नौका निजु खेवक।
भवसागर सुख तरत निकट हरिवंश जु सेवक॥

भावार्थ–

भाइयों! यह सेवक तो श्रीहित हरिवंशचन्द्र के विश्व शोभित गुणों को ही गाता रहता है और दिन रात हर्षपूर्वक श्रीहित हरिवंशचन्द्र के चरणों में ही चित्त लगाये रखता है।वह हर्षपूर्वक चरणों में चित्त लगाकर श्रीहरिवंश की वाणी का ही सुयश गाता रहता है, तथा चित्त लगाकर मन एवं वाणी के द्वारा श्रीहरिवंशचन्द्र के नाम का सुयश जपा करता है।

श्रीसेवकजी कहते हैं कि यह सेवक अपनी जीवन-नौका श्रीहित हरिवंश के नाम-प्रताप से ही पार कर रहा है और श्रीहरिवंश की निकटता प्राप्त करके इतने महान् संसार-सागर को सुखपूर्वक पार कर गया है।

टिप्पणी–

'श्रीहरिवंश प्रताप नाम नौका निज खेवक'-

इस सम्पूर्ण छन्द में और उक्त पंक्ति में श्रीसेवकजी ने अपनी स्थिति का परिचय दिया है, जिससे साधकों एवं उपासकों को अपने मार्ग में एक साहस और उत्साह प्राप्त होता है। उत्साह यह कि जिस प्रकार मैंने इष्ट-लाभ किया, भव सागर से अपनी नौका पार की, उसी प्रकार श्रीहरिवंश के नाम प्रताप से प्रत्येक उपासक अपनी जीवन नौका भीषण संसार-प्रवाह से पार ले जा सकता है।

इसी तरह जैसे संसार से मुक्त होकर मैंने रास-विलासादि सुखों का आस्वादन किया; उसी प्रकार अन्यान्य उपासक गण भी सच्ची निष्ठा, प्रीति और भक्ति से वही सब प्राप्त कर सकते हैं।

श्रीसेवकजी के इस कथन में कदापि आत्मश्लाघा का तात्पर्य नहीं है वरं समस्त जीवों के प्रति सहज दया है; जो संतों का स्वाभाविक

गुण है। अपने अनुभव की छाप दिये बिना संशय ग्रस्त जीवों का भ्रम दूर नहीं होता, अत: वेदों, पुराणों, शास्त्रों, सन्तों एवं भगवान् के वाक्यों में भी यही अनुभव की छाप की पुट पायी जाती है। इन वाक्यों के उपदेशकों में अहं भाव न होने से वह बात आत्मश्लाघा न मानी जाकर उपदेश और सत्य वाक्य माना जाता है। जिस प्रकार सेवक जी ने अपना अनुभव प्रकट किया, उसी प्रकार भगवान् शंकर ने भी कहा–

उमा कहऊँ मैं अनुभव अपना।
सत हरि भजन जगत सब सपना।।

–रामचरित मानस

श्रीहठीजी ने बताया कि मैंने किस प्रकार श्रीराधा चरणों की प्राप्ति की है। इस कथन में इनका अनुभव दूसरों में उत्साह का जीवन दान करता है–

चन्द्रकला प्रेमकला विमला विसाखा के
गाइ गाइ गुननि भयौं हौं परस मैं।
अंतर अतर लगाइ 'हठी',
ऐसी भाँति सेवा करी कैइक बरस मैं।
ललिता लली के लौनें पाँइ सहराये जब,
पाये वर पाय पाँइ राधिका दरस मैं।।

भक्तिमती राजरानी मीरा ने भी यही बात डंके की चोट पर कही–

मीरा के प्रभु गहर गँभीरा हृदै राखिजौ धीरा।
आधी रात प्रभु-दरसन दीन्हा जमुना जू के तीरा।।

श्रीनागरीदास जी ने कहा–

यह विचार उर आनिकै कूदि परे मँझधार।
दरसै श्रीवृंदाविपिन बिच राधा नंदकुमार।।

अस्तु; यह अनुभव प्रकाशन की स्थिति एक ऐसी खुद मस्ती की दशा है कि जब प्रेमी भक्त अपने आपे से उठकर प्रभु प्रेम में तल्लीन

हो जाता है। वह अपना अहं भाव खो देता है और उस समय उसके मुख से हठात् ऐसे वाक्य निकल आते हैं जैसे कि श्रीसेवकजी इस प्रकरण के अन्त में यह कुण्डलिया कह गये।

हमें चाहिये कि उनके इस अनुभव को अपने जीवन में उतारें, इसीमें उनके उपदेश की और हमारे अध्ययन पाठ की सार्थकता है।

।। जै जै श्रीहरिवंश ।।

श्रीहित नाम, प्रभाव धाम–ध्यान[1]

(एकादश प्रकरण)

पूर्व परिचय–

दशम प्रकरण की अन्तिम कुण्डलियों में जो रस सिद्धान्त कहा गया है, उस रस की प्राप्ति किनके चरणाश्रय से होगी, उस रस के अधिष्ठान, मूल किंवा विस्तारक कौन हैं? और उनका स्वरूप क्या है? यही सब इस एकादश प्रकरण के विषय हैं। प्रकरण के इस प्रथम छन्द में श्रीवृन्दावन–विलास का स्वरूप प्रकाशित किया गया है, जो हित का ही रूपान्तर मात्र है। दूसरे छन्द में स्पष्टतया आचार्य श्रीहित हरिवंश के कृपा–वपु का वर्णन किया गया है, साथ ही उनके शील स्वभाव एवं गुणों का भी। तीसरे छन्द में नवधा भक्ति से भी परे प्रेम–लक्षणा का परिचय देकर चौथे छन्द में उस प्रेम–लक्षणा की प्राप्ति जिन श्रीहितचन्द्र की कृपा से होगी, उनका वर्णन है। पाँचवें छन्द में प्रकरण की फलस्तुति के रूप में नित्य–विहार एवं श्रीहित हरिवंशचन्द्र की एकता, समीपता और नित्यता सूचित की गयी है–

मूल– (१)

सजयति हरिवंशचन्द्र नामोच्चारण बर्द्धित सदा सुबुद्धि,
रसिक अनन्य प्रधान सतु साधु मंडली मंडनो जयति।।

जै जै श्रीहरिवंश हित प्रथम प्रणउँ सिर नाइ।
परम रसद निर्विघ्न ह्वै जैसे कवित सिराइ।।

---

१. इस प्रकरण का नाम अर्वाचीन प्रतियों में 'श्रीहरिवंशचन्द्र ध्यान गुण प्रकाश' दिया है।

सुकवित सुछंद गनिज्जै समय प्रबंध वन।
सुकवि विचित्र भनिज्जै हरि जस लीन मन।।
श्रोता सोइ परम सुजान सुनत चित रति करै।
सेवक सोइ रसिक अनन्य विमल जस विस्तरै।।

सुजस सुनत बरनत सुख पायौ। कीर भृंग नारद सुक गायौ।
श्रीवृंदावन सब सुखदानी। रतन-जटित वर भूमि रवाँनी।।
वर भूमि रवाँनि सुखद द्रुम बल्ली, प्रफुलित फलित बिबिध बरनं।
नित सरद बसंत मत्त मधुकर कुल, बहु पतत्र नादहि करनं।।
नाना द्रुम कुंज मंजु वर बीथी, बन बिहार राधा रमनं।
तहाँ संतत रहत स्याम स्यामा सँग, श्रीहरिवंश चरन सरनं।।१।।

भावार्थ–

उन श्रीहित हरिवंशचन्द्र की जय हो, जिनके नाम उच्चारण मात्र से ही सदा सुबुद्धि बढ़ती रहती है। जो रसिक अनन्यों में प्रधान और साधु-मण्डली के भूषण हैं, ऐसे श्रीहरिवंशचन्द्र की सदा जय हो।

श्रीसेवकजी कहते हैं कि मैं सर्वप्रथम श्रीहित हरिवंशचन्द्र के चरणों में सिर झुकाकर (नम्रतापूर्वक) प्रणाम करता हूँ, जिससे [वर्णन रूप] यह कविता परम रसदायक बने और बिना किसी विघ्न के पूर्ण हो जाय। सुन्दर कविता एवं सुछन्द उसी को गिनना चाहिये, जिसमें श्रीवृन्दावन के समय-प्रबन्ध (श्रीयुगल किशोर की अष्ट प्रहर लीला, विहार, सेवा-भावना) का वर्णन हो और विचित्र (विशेष, उत्तम) कवि भी उसी को गिनना कहना चाहिये, जिसका मन श्रीहरि के यशोगान में ही तल्लीन हो। परम सुजान श्रोता वही है, जो श्रीहरि के यश का श्रवण करते ही उनके प्रति प्रीति करने लग जाय; वही सेवक रसिक अनन्य सेवक (दास) है, जो युगल सरकार के पवित्र यश का प्रचार

(विस्तार) करे जिस सुयश को सुनकर एवं वर्णन करके सभीने सुख प्राप्त किया है और जिसका गान कीर-भृंगराज एवं नारद-शुक ने किया है।

[उन्होंने कहा है-] श्रीवृन्दावन ही समस्त सुखों के दाता हैं। यहाँ की भूमि परम श्रेष्ठ, रमणीय एवं रत्नों से जटित है। इस श्रेष्ठ भूमि श्रीवृन्दावन में रमणीय एवं सुखमय द्रुम (वृक्ष) और लताएँ हैं, जो नाना प्रकार के रङ्गों [के फूल एवं फलों] से फूली फली हैं; जहाँ निरन्तर शरद एवं बसन्त ऋतुएँ छायी ही रहती हैं और लता-वृक्षों के पल्लवों पर बहुत से मधु मत्त भ्रमर मधुर निनाद (शब्द) करते रहते हैं। वृन्दावन में नाना प्रकार की द्रुमलता-कुञ्जें हैं, जो बड़ी ही सुहावनी हैं। जिस श्रीवृन्दावन की श्रेष्ठ गलियों में श्रीराधारमण सदैव विहार करते रहते हैं; मैं उसी वृन्दावन में निरन्तर श्रीश्यामा श्याम के समीप और साथ निवास करने वाले श्रीहरिवंशचन्द्र की चरण-शरण में हूँ।

टिप्पणी-

(i) नामोच्चारण बर्द्धित सदा सुबुद्धि-

शास्त्रों में बुद्धि को व्यभिचारिणी स्त्री कहा गया है जो जीवों को अपने फेर में लेकर विषयानुरागी बनाकर नरकों में डाल देती है। श्रीमद्भागवत में पुरञ्जनोपाख्यान, नारदकूट और सवलाश्व-प्रसङ्ग में इसका उल्लेख है (यहाँ जीवों को बहुत विषयों में प्रेरित करने वाली बुद्धि ही व्यभिचारिणी स्त्री है) किन्तु जीव का कल्याण करने वाली, परमार्थमयी, शुद्ध एवं सत्य प्रज्ञा दूसरी ही है जो विवेकपूर्ण होती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे व्यवसायात्मिका-बुद्धि के नाम से कहा है-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहु शाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

(गीता अ० २ श्लोक ४०)

अर्थात् ''अर्जुन! इस कल्याण-मार्ग में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है और अज्ञानी पुरुषों की बुद्धियाँ अनेकों भेदों वाली और अनन्त हैं।''

भगवान् श्रीकृष्ण के इस वाक्य से निश्चय होता है कि परतत्व का बोध कराने वाली बुद्धि ही सदसद् विवेक पूर्ण और विषय विरत होती है।

इस प्रकरण में 'नामोच्चारण बर्द्धित सदा सुबुद्धि' इस वाक्य के द्वारा श्रीसेवकजी ने जिस सुबुद्धि की ओर संकेत किया है, वह परतत्व-रस-शृङ्गार को धारण करने वाली सुबुद्धि है क्योंकि यह रस ब्रह्मानुभूति से भी परे और गूढ़तम है, अतएव रसानुभूति करने वाले साधक को तो विशेष सुबुद्धि की आवश्यकता है, जो ब्रह्मानुभूति से भी परे रसानुभूति का आस्वादन कर सके। ऐसी यह सुबुद्धि श्रीहरिवंश नामोच्चारण से ही उत्पन्न होती है।

(ii) रसिक अनन्य प्रधान–

रसमूर्ति श्रीराधावल्लभलाल की मधुर भाव से उपासना करने वाले 'रसिक' कहे जाते हैं। यह रसोपासना अत्यन्त ऐकान्तिक है; अनन्यता यहाँ परमावश्यकीय और स्वाभाविक है। अनन्य भाव से यह मधुर रसोपासना करने वाले उपासक 'रसिक अनन्य' कहलाते हैं।

समस्त रसिक अनन्यों में श्रीहित हरिवंशचन्द्र प्रधान रसिक अनन्य हैं; आपके प्राकट्य के पूर्व किसी आचार्य ने रसोपासना का ऐसा रूप जैसा कि आपने दिखाया, नहीं बताया था। यद्यपि आपके प्राकट्य के पूर्व अनेक आचार्यों ने श्रीकृष्ण भक्ति और युगल किशोर की स्वकीया एवं परकीया भाव से भक्ति का प्रचार किया था तथापि उनकी प्रचारित भक्ति या तो वह ज्ञान-मिश्रित भक्ति थी या कर्म मिश्रित।

श्रीहिताचार्य पाद ने शुद्ध प्रेम-लक्षणा की रीति से कर्म, ज्ञान-मल रहित रस रूपा अनन्य प्रीति का प्रकाशन किया, जो 'भूतो न भविष्यति'; अथ आप रसिक अनन्य प्रधान हैं। पण्डित श्रीहरिरामजी व्यास ने आपकी रसिक अनन्य प्रधानता के लिये लिखा है-

हुतौ रस रसिकन कौ आधार।
बिनु हरिबंसहि सरस रीति कौ कापै चलिहै भार॥
को राधा दुलरावै गावै वचन सुनावै चार।
बृंदावन की सहज माधुरी कहिहै कौन उदार॥
पद-रचना अब कापै ह्वै है निरस भयौ संसार।
बड़ौ अभाग अनन्य सभा कौ उठि गयौ ठाठ सिंगार॥
जिन बिनु दिन छिन सत-जुग बीतत सहज रूप आगार।
'व्यास' एक कुल कुमुद बंधु बिनु उड़गन जूँठौ थार॥

(iii) 'साधु-मंडली मंडन:'-

साधु वेष की बात दूसरी है किन्तु जहाँ तक साधु और साधुता का विषय है, वह चित्त से सम्बन्धित है। उस समय वृन्दावन वासी महानुभावों में अधिकांश विरक्त महात्मा थे; उनमें श्रीहिताचार्य पाद गृहस्थी होते हुए भी सबके अग्रणी और प्रधान थे। आपके दो पत्नियाँ और एक पुत्र श्रीवृन्दावन वास के समय भी साथ थे किन्तु आप तो उनमें रहते हुए भी पूर्ण निर्लिप्त ही रहे और अपनी मधुर रसोपासना में इतने तल्लीन रहे कि बाह्य-जगत् को भी भूल गये। कहते हैं कि एक बार किसी के द्वारा 'देव-दानव' का अन्तर पूछे जाने पर आपने उत्तर दिया था- ''भैय्या! मेरी दृष्टि में अब तो इन दोनों का भेद रहा ही नहीं।''

आपकी सम्पूर्ण जीवन-लीला का अध्ययन करने पर आपकी साधुता का दर्शन हो सकता है कि आपमें वह किस प्रकार व्याप्त थी। आपकी प्रशंसा में कहे गये-

निरभिमान निर्वैर निरूपम निष्कलंक जु सर्वदा।

और

करत जे अनसहन निंदक तिनहुँ पै अनुग्रह कियौ।

यह वाक्य स्पष्ट रूप से आपकी साधु-भूषणता के द्योतक हैं। श्रीव्यास जी के वाक्य-

हुतौ रस रसिकन कौ आधार

और

रसिक हरिवंश से स्वामी हरिदास से
को वपुरा अब करि सकै अनन्यनि की सारी।

आपकी साधु मण्डली-भूषणता के प्रमाण हैं। उस समय आज से ५०० वर्ष पूर्व निर्जन श्रीवन में सशिष्य, सकुटुम्ब अनयासी (आकाशी) वृत्ति से श्रीवन वास करना आपके ही वश की बात थी।

अस्तु; स्थान-संकोच से आपकी साधु-भूषणता का वर्णन नहीं किया जा सकता, प्रेमी पाठकगण अन्यत्र आपके जीवन चरित्र और अन्य ग्रन्थों में इसका दर्शन करें।

(iv) ''कीर-भृंग नारद सुक गायौ''-

इस पंक्ति में श्रीसेवकजी ने श्रीवृन्दावन-वर्णन की नित्यता एवं प्रभाव में चार प्रसंगों का उल्लेख किया है- कीर, भंग, नारद एवं शुक के द्वारा (श्रीवन के माहात्म्य का वर्णन) जो यत्र-तत्र किया है।

प्रथम एवं द्वितीय प्रसंग आदि पुराण के अध्याय दश में इस प्रकार हैं कि जब ब्रह्माजीने अलिराज रूप नारायण से वृन्दावन नित्य-विहार सम्बन्धी प्रश्न किया-

ततोऽहमूचे भ्रमरं वद विष्णोर्महात्मनः।
क्रीड़ां नित्य विहाराख्यां क्व सा भवति तद्वद॥
वैकुण्ठे सत्य लोके वा नाग लोकेऽथ वा भुवि।
स्वर्लोके सुरभीनाम्न्या चान्यया यदि का क्व सा॥

(आदिपुराण अ. १० श्लोक १९-२०)

अर्थात् ''ब्रह्माजी ने कहा- मैंने पूछा कि हे भ्रमरराज! आप महात्मा श्रीकृष्ण का चरित्र कहिये, और यह बताइये कि उनकी नित्य-विहार क्रीड़ा किस स्थान में होती है? वह क्रीड़ा है क्या? वह वैकुण्ठ, सत्य लोक, नाग लोक, पृथ्वी लोक, स्वर्ग लोक, गोलोक, या किसी अन्य लोक में होती है और किनके साथ होती है?

इस प्रश्न के उत्तर में भृंगराज ने कहा कि यही प्रश्न एक बार पहले कभी मुझसे कीरराज ने किया था, अतः वही बात जो मैंने उनसे कही थी, अब तुमसे कहता हूँ। ये कीरराज मुनि पक्षी रूप से वैकुण्ठ-पुरी में सदा निवास करते हैं।

(देखिये आदि पुराण अध्याय १० श्लोक २१.२२)

इसके पश्चात् कीर राज के प्रश्नानुसार भृंगराज श्रीवृन्दावन के माहात्म्य, स्थिति, विहार, प्रभाव, श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं सखिजन के स्वरूप लीला आदि का आगे अनेक अध्यायों में सविस्तार वर्णन करते हैं, (देखिये आदि पुराण अध्याय दश से आगे क्रमशः)।

तीसरे प्रसङ्ग में श्रीनारद जी के द्वारा श्रीवृन्दावन वर्णन का उल्लेख है। यह प्रसङ्ग भी आदि पुराण में है क्योंकि इस पुराण के वक्ता सनत्कुमार जी से सुनकर श्रीनारदजी ने इसे भगवान् वेद-व्यासजी को सुनाया है और इसमें श्रीवृन्दावन-विहार का वर्णन है ही अतः नारद के द्वारा श्रीवन-विहार वर्णन होना मान्य होगा ही-

व्यास उवाच-

सनत्कुमारोक्तमिदं पुराणं, यतो न किञ्चित्परमस्ति पूर्वम्।
मया श्रुतं नारदतो बदर्य्यां, श्रद्धालुना चादि पुराण संज्ञम्॥

(आदि पुराण अ. ५ श्लोक २)

अर्थात् "व्यासजी ने कहा- सनत्कुमार द्वारा कहे गये समस्त पुराणों में यह आदि-पुराण सर्वश्रेष्ठ है, मैंने इसे बदरिकाश्रम में श्रद्धा के साथ श्रीनारदजी के मुख से सुना था।"

चौथा प्रसंग श्रीशुक का है, जिसमें श्रीशुक के द्वारा वृन्दावन-महिमा एवं विहार का वर्णन है। श्रीमद्भागवत महापुराण के वक्ता रूप में हम श्रीशुकदेवजी का दर्शन करते हैं। जिन्होंने श्रीमद्भागवत का पठन-श्रवण किया है, उनसे यह बात छिपी नहीं है कि श्रीशुकदेवजी किस सुंदर रीति से श्रीवृन्दावन-विहार का निरूपण करते हैं, अतः इस सम्बन्ध में अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

अस्तु; इस प्रकार चार प्रसङ्गों के संकेत द्वारा श्रीसेवकजी ने जो बात लक्ष्य करायी है, उसे उन-उन स्थानों में देखना चाहिये। यों तो सबका सारभूत लक्ष्य श्रीवृन्दावन की नित्यता-निरूपण ही है। यहाँ पर जो बातें श्रीसेवकजी बता रहे हैं, वहीं बातें आदि पुराण, बृहन्नारदीय पुराण, एवं श्रीमद्भागवत में क्रमशः कीर भृंग, नारद एवं श्रीशुक के द्वारा प्रतिपादित हैं। सबका तात्पर्य इसी बात में है कि श्रीवृन्दावन धाम सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है। श्रीवृन्दावन की लीला अनादि अनन्त एवं नित्य है जो सृष्टि प्रलय से परे है।

(२)

अब श्रीहिताचार्य पाद का स्वरूप-ध्यान वर्णन करते हैं-

मूल–

रहत सदा सखि संगम रास रंग रस रसाल उल्लासं।
लीला ललित रसालं सम सुर तालं वरषत सुख पुंजं।।
अतुलित रस वरषत सदा सुख निधान बन बासि।
अद्भुत महिमा महि प्रगट सुंदरता की रासि।।
सुंदरता की रासि कनक द्रत देह दुति।
बारिज बदन प्रसन्न हासि मृदु रंग रुचि।।
सुभ्रू सुष्ठु ललाट पट सुंदर करनं।
नैंन कृपा अबलोकि प्रनत आरति हरनं।।
सुंदर ग्रीव उरसि बनमालं। चारु अंस वर बाहु बिसालं।।
उदर सु नाभि चारु कटि देसं। चारु जानु सुभ चरन सुबेसं।।
सुभ चरन सुबेस मत्त गजवर गति, पर उपकार देह धरनं।
निज गुन विस्तार अधार अवनि पर, बानी बिसद सु बिस्तरनं।।
करुनामय परम पुनीत कृपानिधि, रसिक अनन्य सभाऽभरनं।
जै जग उद्दोत व्यासकुल दीपक, श्रीहरिवंश चरन शरनं।।

भावार्थ–

श्रीहित हरिवंशचन्द्र सदा सखियों के संग में [सखि रूप से] रहते हुए रस के आनन्द–रंग और रसमय रास–उल्लास में डूबे रहते हैं। आपकी लीलाएँ बड़ी ही ललित और रसमयी हैं। रासोत्सव में तो मानो आप ताल–स्वर के सम–क्रम में सुख–समूह की ही वर्षा करते रहते हैं।

आप सुख निधान श्रीवृन्दावन में निरन्तर निवास करते हुए अतुलित रस की वर्षा करते रहते हैं। आपकी अद्भुत महिमा भूतल पर प्रकट है और आप सुन्दरता की राशि हैं। आपकी देह–प्रभा सौन्दर्य राशि–पूर्ण एवं पिघले हुए स्वर्ण के जैसी है। विकसित कमल की तरह

प्रसन्न मुख, मदु मुसकान, रूचिमय कान्ति, सुन्दर भृकुटियें, विशाल और देदीप्यमान् ललाट पटल, मनोहर युगल कर्ण एवं कृपा से भरी हुई आँखें जो एक दृष्टिपात से ही अपने प्रणत जनों के समस्त दु:खों का हरण कर लेती हैं। इसी प्रकार सुन्दर ग्रीवा (कण्ठ) हृदय-स्थल पर विराजमान् वनमाला, सुन्दर कन्धे और श्रेष्ठ एवं विशाल भुजाएँ, सुचारु उदर, नाभि और कटि देश हैं। ऐसी ही सुन्दर जंघाएँ और पवित्र सुन्दर चरण हैं।

इन पवित्र और सुहावन चरणों में मत्त गजराज की सी श्रेष्ठ गति है। जिन्होंने केवल पर-उपकार के ही लिये देह धारण की है और अपने गुणों का विस्तार किया है। श्रीहिताचार्य ने रसिकों के आधार स्वरूप अपनी पावन और महान वाणी को भूतल पर प्रकट किया और उसका विस्तार किया है। जो करुणामय हैं,परम पावन हैं, कृपानिधि हैं एवं रसिक अनन्यों की सभा (समाज) के आभरण हैं, उन जगत को प्रकाशित करने वाले, व्यास मिश्र के कुल-दीपक परम दुलारे श्रीहित हरिवंशचन्द्र की सदा जय हो; मैं इन्हीं के चरणों की शरण में हूँ।

टिप्पणी–

(i) 'अतुलित रस बरषत सदा'

युगल किशोर श्रीराधावल्लभलाल का प्रेम रस अतुल्य है जिसकी समकक्षता (बराबरी) में कोई नहीं आ सकता। इस रस मार्ग और रस विलास के समक्ष कर्म, ज्ञान, उपासना, भक्ति, योग, स्वर्ग, भोग, मोक्ष-कैवल्य आदि हैं ही क्या? आचार्य पाद ने कहा है–

लावण्यामृतवार्त्तया जगदिदं संप्लावयंती शर-
द्राकाचन्द्रमनन्तमेव वदन-ज्योत्स्नाभिरातन्वती।

श्रीवृन्दावन कुञ्ज मञ्जु गृहिणी काप्यस्ति तुच्छामहो,
कुर्वाणाखिल साध्य-साधन कथां दत्वा स्वदास्योत्सवम्॥

–श्रीराधासुधानिधि ६१ श्लोक

अर्थात् "जो इस जगत् को अपनी सौन्दर्य-सुधा वाणी से संप्लावित करती (सींचती) रहती हैं तथा जो अपने श्रीमुख के प्रकाश से मानो शरद काल के अनन्त चन्द्रमाओं का प्रकाश बखेरती रहती हैं, अहो! श्रीवृन्दावन के मञ्जुल निकुञ्ज भवन की उन्हीं अनिर्वचनीय स्वामिनि ने मुझे अपनी सेवा का आनन्द देकर समस्त साधन-साध्य कथाओं को मेरे लिये तुच्छ कर दिया।"

यह है अतुलित रस, जिसके समक्ष सारे साध्य-साधन प्रसंग तुच्छ हो गये। इस रस का वर्षण किया है श्रीहित हरिवंशचन्द्र पाद ने, अत: सेवकजी ने कहा– **'अतुलित रस बरषत सदा।'**

(ii) अद्‌भुत महिमा महि प्रगट–

श्रीहरिवंशचन्द्र की महिमा साधारण नहीं अपितु अद्भुत महिमा प्रकट हुई। इसका आशय यह है कि आपने जगत् के समक्ष जो अपनी रसोपासना रखी वह महान्, सर्वोत्कृष्ट अत्यन्त उज्ज्वल और अद्भुत- सबसे विलक्षण है; जिसके सामने ज्ञान, कर्मयोग तो फीके हुए ही; वरं महात्माओं ने यह भी कहा–

"मुक्तिहू जहाँ लौन सी खारी लागै;"

और जिस प्रीति के सामने–

"मुक्ति चारयौ जहाँ भरत पानी;

यह दिव्य रस ही ऐसा है; जिसके प्रकाशित करने से आपको अद्भुत महिमा शाली की उपाधि दी गयी। आपने जिस अद्भुत रस का उदय किया, उसके लिये सेवकजी ने कहा है–

पाई रस भक्ति गूढ़ जुग जुग जग दुर्लभ भव इंद्रादि विधिं।
आगम अरु निगम पुरान अगोचर सहज माधुरी रूपनिधिं।।
अनभय आनंदकंद निजु संपति गुप्त सुरीति प्रगट करनं।
जय जग उद्दोत व्यास कुलदीपक श्रीहरिवंश चरन-सरनं।।

आपके द्वारा प्रकाशित रस की उत्कृष्टता में श्रीव्यासजी का यह वाक्य प्रमाण है-

पैनी छवि कोउ कवि न बखानैं।
जीभ कुकात प्रीति कहिबै कौं व्याकुल होत अयानैं।।
अति अगाध रस सिंधु माधुरी बेई पै कहि जानैं।
ताकौ वार पार नहिं पावत विधि शिव शेष धरत श्रुति ध्यानैं।।
कोटि कोटि जयदेव सारिखे कहत सुनत न अघानैं।
'व्यास' आस पुजवै को मन की श्रीहरिवंस समानैं।।

(iii) "जग उद्दोत व्यास कुल दीपक"-

व्यास मिश्र के कुल दीपक श्रीहरिवंशचन्द्र ही विश्व को ज्योति प्रदान करने वाले हैं। क्योंकि इन्होंने उस प्रेम तत्व का प्रकाश किया है, जिसके बिना सारे साध्य-साधन और विश्व-वैभव अन्धकारमय हैं। अन्यान्य साधन स्वयं ज्योतिर्मान् नहीं हैं और प्रेम स्वयं ज्योतिर्मय है। श्रीहरिवंश प्रेम प्रकाशक और प्रेम स्वरूप हैं अतः जग उद्दोत - अर्थात् विश्व प्रकाशक भी हैं। श्रीहित ध्रुवदासजी ने कहा है-

प्रगट प्रेम कौ रूप धरि श्रीहरिवंश उदार।
राधावल्लभलाल को प्रगट कियौ रस सार।।

इसी प्रकार श्रीसेवकजी ने कहा है-

प्रगटित प्रेम प्रकासं सकल जंतु सिसरीकृत चित्तं।
गत कलि तिमिर समूहं निर्मल अकलंक उदित जग चंद्रं।।

विशद चंद तारातनय सीतल किरन प्रकासि।
अमृत सींचत मम हृदै सुख मय आनँद रासि।।

तात्पर्य यह कि श्रीहित हरिवंशचन्द्र ही विश्व को प्रेम का प्रकाश देने वाले विशद चन्द्र हैं। अतः श्रीसेवकजी का वाक्य 'जग उद्दोत व्यास कुल दीपक' उचित ही है।

(३)

रसिकाचार्य श्रीहित हरिवंशचन्द्र ने जिस सर्वोपरि रस भक्ति का प्राकट्य किया, अब उसका परिचय देते हैं–

मूल–

सारासार विवेकी प्रेम पुंज अद्भुत अनुरागं।
हरि जस रस मधु मत्त सर्व त्यक्त्वा दुस्तज कुल कर्म।।
कर्म छाँड़ि कर्मठ भजै ग्यानी ग्यान विहाय।
व्रतधारी व्रत तजि भजै श्रवनादिक चित लाय।।
श्रवनादिक चित लाय जोग जप तप तजे।
औरौ कर्म सकाम सकल तजि सब भजे।।
साधन बिबिध प्रयास ते सकल विहाबहीं।
श्रवन-कथन सुमिरन सेवन चित लावहीं।।
अर्चन बंदन अरु दासंतन सख्य और आत्मा समर्पन।
ये नव लच्छन भक्ति बढ़ाई तब तिन प्रेम लच्छना पाई।।
पाई रस भक्ति गूढ़ जुग जुग जग, दुर्लभ भव इंद्रादि विधिं।
आगम अरु निगम पुरान अगोचर, सहज माधुरी रूप निधिं।।
अनभय आनंद कंद निजु संपति, गुपित सुरीति प्रगट करनं।
जै जग उद्दोत व्यास कुल दीपक, श्रीहरिवंश चरन सरनं।।

भावार्थ–

श्रीहित हरिवंशचन्द्र सार-असार तत्व के परम विवेकी (क्षीर-नीर निर्णयकारी), प्रेम-पुञ्ज और अद्भुत अनुरागमय हैं। ये श्रीहरि का यश-रूपी रसमय मधु पान करके मतवाले हो रहे हैं, और इसीलिये इन्होंने प्रायः अन्य सबके लिये दुस्त्यज कुल-कर्मों का भी सर्वतः पूर्णरूपेण परित्याग कर दिया है।

[आपके इस सुयश से आकर्षित होकर] कर्मठों ने कर्म त्यागकर और ज्ञानियों ने ज्ञान (वेदान्त-विचार) छोड़कर इनके उपदेशानुसार श्रीहरि का भक्ति-भाव से भजन ही किया। इसी तरह व्रत धारियों ने व्रतों का परित्याग करके चित्त लगाकर श्रवण [कीर्तन, स्मरण] आदि नवधा भक्ति के द्वारा भजन किया। अन्य योगी, जपी तपी आदि ने भी श्रवण आदि भक्ति में चित्त लगाकर योग, जप और तप आदि का त्याग कर दिया तथा और भी जो सकामी जन थे, उन सबने भी सकाम कर्मों के त्याग पूर्वक भक्ति ही की।

[इस प्रकार जो लोग भक्ति की श्रेष्ठता समझकर] जितने भी प्रयासपूर्ण साधन हैं, उन्हें छोड़कर श्रवण-कथन, स्मरण, सेवन भक्ति में ही चित्त लगाते हैं और फिर अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-समर्पण आदि नवधा-भक्ति की ही वृद्धि करते रहते हैं, वही प्रेम-लक्षणा भक्ति प्राप्त करते हैं। अथवा उक्त कर्मठ, ज्ञानी, जपी, तपी और व्रतधारियों को अपने-अपने धर्मों का त्याग करके नवधा-भक्ति के आश्रित होना चाहिए।

तब वे लोग उस गूढ़ रसमयी भक्ति को प्राप्त कर लेते हैं जो जगत् में युग-युग तक दुर्लभ तो है ही अपितु इन्द्रादि देवगण, भगवान्

शंकर एवं ब्रह्मा के लिये भी दुर्लभ है। यह प्रेम लक्षणा भक्ति वेद, शास्त्र एवं पुराणों के लिये भी अगोचर है और जो स्वाभाविक ही माधुर्य एवं रूप की भण्डार है। यह प्रेमाभक्ति भय रहित, आनन्द की मूल और श्रीहित की निज सम्पत्ति है, क्योंकि इन्होंने ही इस गुप्त एवं सुन्दर रस-रीति भजन को प्रकट किया है। अतः जगत् को इस प्रेम-लक्षणा का प्रकाश देने वाले व्यास कुल दीपक श्रीहित हरिवंशचन्द्र की जय हो।

टिप्पणी– (i) **''सारासार विवेकी''–**

कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग और प्रेम इन सबको एकमेक करना और ऐसा ही मिलाजुला उपदेश करना सारासार विवेक नहीं कहा जा सकता और न ऐसा करने वाला विवेकी ही। सारसार विवेकी वही है, जो इनमें से उत्तम उपासना को ग्रहण कर ले और कनिष्ठ का त्याग कर दे। श्रेय-प्राप्ति के समस्त मार्गों में भक्ति श्रेष्ठ और सुकर है, ऐसा सब वेद, शास्त्र एवं सन्तों का मत है किन्तु इस भक्ति में से भी शुद्ध प्रेम लक्षणा भक्ति को लेकर अन्य कर्म मिश्रा, ज्ञान मिश्रा, वैधी आदि भक्तियों का त्याग कर देना आपका ही काम था। आपने अपने सारासार विवेक का निर्णय कितना सुन्दर सुनाया है–

रहौ कोउ काहू मनहिं दियैं।
मेरे प्राननाथ श्रीस्यामा, सपथ करौ तृन छियैं।।
जे अवतार-कदंब भजत हैं, धरि दृढ़ व्रत जु हियैं।
तेऊ उमँगि तजत मरजादा, बन-बिहार-रस पियैं।।
खोये रतन फिरत जे घर-घर, कौन काज ऐसे जियैं।
(जै श्री) हित हरिवंस, अनत सचु नाहीं बिनु या रजहिं लियैं।।

और

मोहनलाल के रँग राँची।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ, बात दसौं दिसि माँची॥
कंत अनंत करौ किन कोऊ, बात कहौं सुनि साँची।
यह जिय जाहु भलैं सिर ऊपर, हौंऽब प्रगट ह्वै नाँची॥
जाग्रत सयन रहत उर ऊपर, मनि कंचन ज्यौं पाँची।
(जैश्री) हित हरिवंस डरौं काके डर, हौं नाँहिन मति काँची॥

इन दो पदों में श्रीहिताचार्यपाद ने अपने जीवन का गुप्त रहस्य-परम सारासार विवेक प्रकाशित कर दिया और जिसे लक्ष्य में रखकर आपने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भक्ति (नवधा) से भी चित्तवृत्ति फेर ली-

धर्माद्यर्थ चतुष्टयं विजयतां किं तद्वृथा वार्त्तया,
सैकान्तेश्वर भक्ति योग पदवी त्वारोपिता मूर्द्धनि।
यो वृन्दावन सीम्नि कश्चन घनाश्चर्य्यः किशोरी मणि-
स्तत्कैङ्कर्य्य रसामृतादिह परं चित्ते न मे रोचते॥

- श्रीराधासुधानिधि ७७ श्लो॰

अर्थात् ''धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पदार्थ यदि विश्व में उत्कृष्ट हैं तो भले ही रहे आवें, हमें उनकी व्यर्थ चर्चा से क्या? और ईश्वर की उस भक्ति योग-पदवी को भी हम शिरोधार्य करते-केवल सम्मान करते हैं किन्तु उससे भी हमारा क्या प्रयोजन? क्योंकि हमारे चित्त को तो वृन्दावन की सीमा में विराजमान् घनीभूत आश्चर्य रूपा किसी अनिर्वचनीय किशोरी मणि के सेवा रूप रसामृत के सामने न तो इस लोक की कोई वस्तु सुहाती न परलोक की ही।''

इस प्रकार आपके अनेकों वाक्यों से सार और असार तत्व के विवेक-विचार की सूचना मिलती है कि जिसके सामने कैवल्य परम पद भी तुच्छ है। वह सारासार विवेक का लक्ष्य क्या है? श्रीवृन्दावनेश्वरी, नित्य रास रस विलासिनि, श्रीकृष्ण आह्लादिनि, निखिल निगमागम अगोचर, प्रेम मूर्त्ति श्रीराधा।

(ii) 'सर्व त्यक्त्वा दुस्तज कुल कर्म''-

जो लोग धर्म, कर्म, जाति, कुल, वर्ण आदि के निष्ठावान् और अभिमानी हैं, वे अपने कुलोचित कर्मों के त्याग पूर्वक परम दीन होकर भक्ति-मार्ग को स्वीकार कर लें; थोड़ा कठिन है। क्योंकि उत्तम जाति कुल की प्रतिष्ठा को खो देना सरल नहीं है। देह-गेह में अहं और मम की भावना से आबद्ध जीव, अभिमानों का त्याग करें भी किस विरते पर? जो बड़ी सम्पत्ति पा जाता है, वही कौड़ी को नगण्य समझता है। श्रीहिताचार्यपाद ने उस दुस्त्यज कुल कर्म को सहज ही त्याग दिया, क्योंकि उन्हें अपनी प्रेमा-भक्ति के सामने इन कुल-कर्मों का महत्व ही नहीं दिखा। ठीक भी तो है-

जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यौ क्यौं करील फल खावै?
सूरदास प्रभु कामधैनु तजि छेरी कौन दुहावै?

इसीलिये आपने रसिकों के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा-

न जानीते लोकं न च निगम जातं कुल परं-
परां वा नो जानत्यहह न च सतां चापि चरितम्।।

अर्थात् ''वे रसिकजन न तो लोक को जानते और न वेद जनित मर्यादा किंवा कुल परम्परा को ही। अरे! और तो क्या उन्हें सत्पुरुषों के चरित्रों के अनुकरण-धारण की भी अपेक्षा नहीं है?''

आपकी इस बेखटक सिंह गति को देखकर भक्तमालकार

श्रीनाभा स्वामीजी ने आपके सम्बन्ध में लिखा–

विधि–निषेध नहिं दासि अनन्य उत्कट व्रतधारी।

आपके जीवन में वेद–कथित विधि–निषेधों का कोई स्थान ही नहीं। कुल–कर्मों के परित्याग की बात हित–चरित्रकार श्रीउत्तमदासजी ने भी लिखी है–

जनम मरन लौं संसकार दस।
ते नहिं मानहिं प्रेम भक्ति बस॥

(iii) "साधन बिबिध प्रयास ते सकल विहाबहीं "–

महाप्रभुपाद ने जिस प्रेम–लक्षणा भक्ति का प्रकाश किया है वह साधनों से सिद्ध होने वाली नहीं वरं कृपा से सिद्ध होने वाली भक्ति है। ऐसा जानकर जिन योगी, जपी, तपी आदि ने योग, जप, तप आदि का परित्याग करके भक्ति का आश्रय लिया, उन्होंने भी नवधा भक्ति का आश्रय ग्रहण कर फिर भगवत्कृपा से प्रेम लक्षणा पायी। इस प्रेम–लक्षणा में साधन तो प्रयास (केवल श्रम) मात्र हैं अतः त्याज्य हैं। आपने श्रीराधा–सुधानिधि स्तोत्र में आज्ञा की है–

दूरादपास्य स्वजनान्सुख मर्त्यकोटिः,
सर्वेषु साधन वरेषु चिरं निराशः।
वर्षन्तमेव सहजाद्भुत सौख्य धारां,
श्रीराधिका–चरणरेणुमहं स्मरामि॥

श्रीराधासुधानिधि श्लोक–३२

अर्थात् "मैंने अपने स्वजन सम्बन्धी वर्ग एवं कोटि–कोटि सम्पत्तियों के सुखों का दूर से ही परित्याग कर दिया है, मैं परमार्थ सम्बन्धी सभी श्रेष्ठ–श्रेष्ठ साधनों से चिर निराश भी हो बैठा हूँ। अब

तो मैं स्वाभाविक और अद्‌भुत सुखों की धारा का वर्षण करने वाली श्रीराधा की चरण रेणु का ही स्मरण करता हूँ।''

इस रस की प्राप्ति में सिवाय कृपा के और कोई साधन ही नहीं है इस पर श्रीध्रुवदासजी ने कहा है-

या रस कौ साधन नहिं कोई।
कुँवरि कृपा ते जो कछु होई॥

अत: उपासक को चाहिये कि साधन के अभिमान और वासनाओं का त्याग करके भजन करे और प्रेमी-भक्तों, रसिकों का संग करे, रसिकों की कृपा से ही प्रेम-लक्षणा भक्ति का उदय होगा, इसीलिये चतुर जन-

साधन बिबिध प्रयास ते सकल विहावहीं।

(iv) ''सहज माधुरी रूप निधिं''-

महाप्रभु श्रीहित हरिवंशचन्द्र के द्वारा उदित नित्य-विहार, सहज माधुर्यमय एवं रूप-निधि है। अन्य परमार्थ-तत्व, धाम आदिकों में आपाद् रमणीयता का अभाव है साथ-साथ वहाँ अन्यान्य रसों और भावों का प्रवेश भी है किन्तु यहाँ केवल विशुद्धश्रृङ्गार है, जिसमें प्रिया-प्रियतम की पारस्परिक अनुपम आसक्ति के समक्ष अन्य रसों की छाया भी नहीं छू सकती। दूसरे यह नित्य विहार, रूपासक्ति पर अवलम्बित है जिसमें दोनों किशोर एक दूसरे की रूप-माधुरी का पान करके ही जीवन धारण करते हैं-

रूप परसपर चितैवौ जीवन दुहुँनि की आहि।

अतएव यह प्रेम लक्षणा भक्ति ''सहज माधुरी रूप निधिं है।''

(v) ''अनभय, आनंदकंद, निजु सम्पति''-

अनभय वह है, जहाँ किसी भी प्रकार का भय न हो। रसिकाचार्यों का मत है कि बैकुण्ठ, मोक्ष और गोालेक-धाम भी पतन, जन्म और शापादि की आशंकाओं से पूर्ण हैं। यदि सब तरह से निर्भय है तो श्रीवृन्दावन धाम। जिसके सम्बन्ध में श्रीव्यास जी ने कहा-

मेघ छ्यानवे कोटि बाग सींचत जहाँ,
मुक्ति चारौं जहाँ भरत पानी।
सूर ससि पाहरू, पवन जन, इन्दिरा-
चरन दासी, भाट निगम बानी॥
धर्म कुतवाल, शुक सूत, नारद चारू
फिरत चर चार सनकादि ज्ञानी।
सतगुन पौरिया, काल बँधुवा,
कर्म डाँड़ियै, काम-रति सुख-निसानी॥

और-

राधा मोहन के निज मंदिर महा प्रलय नहिं जात।

और यह नित्य-विहार आनन्द रूप भी इतना कि-

दोनों- नहिं जानत कित द्यौस निसा री।

अथवा-

याही रस में रहैं मगन नहिं जानत निसि भोर।
वृंदावन में प्रेम की नदी बहै चहुँ ओर॥

यह 'अनभय और आनन्दकन्द' नित्य-विहार, महाप्रभु श्रीहित हरिवंशचन्द्र की 'निज सम्पत्ति' है, क्योंकि यह रस-तत्व सकल उपनिषदों से परे है। इसका प्राकट्य आपने अपने हृदय-सिन्धु के मन्थन से किया है। इस प्रकार सर्वापेक्षा स्वतंत्र होने से निज सम्पत्ति है। 'निज'

शब्द आत्मवाचक है अत: यह रस विहार प्रेम रूप श्रीहित हरिवंश का आत्म रमण–आत्म विहार 'स्व' रूप है तथा सहज स्वाभाविक भी।

(vi) ''गुपित सुरीति प्रगट करनं–''

रसिकाचार्यों का मत है कि पुराण एवं शास्त्रों में श्रीकृष्ण-भक्ति और युगल किशोर की सामान्य भक्तियों का वर्णन भी है किन्तु नित्य-विहार रस का पता वेद और शास्त्रों को भी नहीं था। तब वेदों के ज्ञाता ब्रह्मा और अन्यान्य महर्षिगण भी इस नित्य विहार तत्व को कैसे जानते? अतएव सबसे सुदूर छिपा रहने के कारण यह विहार रस सबसे अलक्षित, अगोचर और अगम्य था। उसे हित स्वरूप वंशी के अवतार श्रीहरिवंशचन्द्र रसिकाचार्य ने प्रकट किया, क्योंकि आप श्रीप्रिया प्रियतम की निकटतम हित रूपा सहचरि प्रेमरूपा वंशी और निकुञ्ज-ध ाम की सर्वश्रेष्ठ यूथ नायिका है। अभी तक जो रसरीति सबसे छिपी थी, उसे प्रकट कर देने के कारण आपके लिये श्रीसेवकजी ने कहा– **'गुपित सुरीति प्रगट करनं।'**

श्रीसेवकजी के इस भाव–'गुपित सुरीति प्रकट करनं' का रसिक महानुभावों ने खूब समर्थन और समादर किया है–

नमो नमो जै श्री हरिवंस।
रसिक अनन्य वेनु कुल मंडन लीला मान सरोवर हंस।।
जयति वृंदावन सहज माधुरी रास विलास प्रसंस।
आगम निगम अगोचर राधे चरन सरोज 'व्यास' अवतंस।।

–हरिराम व्यास

इसी प्रकार श्रीहित ध्रुवदास जी ने कहा है–

अगम निगम की कौन चलावै। महाविष्णु के मन नहिं आवै।।
यह रस गायौ श्रीहरिवंश। मुकता कौन चुनै बिनु हंस।।

इन वाक्यों से आपके नित्य विहार की गोप्यता एवं आगम निगम और महाविष्णु (शेषशायी नारायण) से भी अलक्षितता पायी जाती है।

दूसरे आपने जिस मधुर और उत्कृष्ट शैली से रस-विलास की प्रक्रिया लक्षित करायी है, वह शैली अपने आपमें अनोखी है; जो ओरों में तो सर्वथा है ही नहीं, 'गुपित सुरीति प्रकट करनं' का इस ओर भी संकेत है।

(४)

इस छन्द में श्रीहित चन्द्र का स्वरूप और उनकी शरणागति का फल प्रकाशित करते हैं-

मूल-

प्रगटित प्रेम प्रकासं सकल जंतु सिसरी कृत चित्तं।
गत कलि तिमिर समूहं निर्मल अकलंक उदित जग चंद्रं॥
विसद चंद्र तारातनय सीतल किरन प्रकासि।
अमृत सींचत मम हृदै सुखमय आनंद-रासि॥
सुखमय आनंद रासि सकल जन सोक-हर।
समुझि जे आये सरन ते डरत न काल डर॥
दियौ दान तिन अभय द्वन्द दुख सब घटे।
नित नित नव नव प्रेम कर्म बंधन कटे॥
कटे कर्म-बंधन संसारी। सुख सागर पूरित अति भारी।
विधि निषेध शृंखला छुड़ावै। निज आलय बन आनि बसावै॥
आलय बन बसत संग पारस के, आयस कनक समान भयं।
माँगौं मन मनसि दासि अपनी करि, पूरन काम सदा हृदयं॥
सेवक गुन-नाम आस करि बरनै, अब निजु दासि कृपा करनं।
जै जग उद्दोत व्यासकुल दीपक, श्रीहरिवंश चरन-सरनं॥४॥

भावार्थ–

[श्रीहित हरिवंशचन्द्र ने] प्रेम के प्रकाश को प्रकट करके समस्त जीवों के चित्त को शीतल कर दिया। जगत में प्रेम रूपी इस निर्मल, निष्कलंक हरिवंश चन्द्र के उदय से कलि के अन्धकार (पाप) समूह विनष्ट हो गये। ये पवित्र चन्द्र श्रीतारानन्दन (श्रीहरिवंश) अपनी शीतल किरणों को प्रकाशित करके मेरे हृदय में सुख पूर्ण आनन्दामृत राशि का सिंचन कर रहे हैं।

श्रीहरिवंशचन्द्र सुखमय हैं और आनंद की राशि हैं ये समस्त शरणागत जनों के शोकों का नाश करने वाले भी हैं; ऐसा समझकर जो जन इनकी शरण में आते हैं, वे फिर काल (मृत्यु) के डर से नहीं डरते। श्रीहरिवंशचन्द्र उन्हें अभय-दान दे देते हैं और उनके सभी द्वन्द्व (जन्म-मरण आदि) दु:ख कट कर हृदय में नित्य प्रति नूतन प्रेम बढ़ता है।

श्रीहरिवंश की शरण आने वाले शरणागत के सांसारिक कर्म बन्धन कट कर हृदय में सुख का अत्यन्त विशाल सागर पूर्ण हो लहरा जाता है। श्रीहित चन्द्र उस शरणागत को वेदोक्त विधि-निषेधों की साँकलों से छुड़ाकर अपने निज धाम श्रीवृन्दावन में ला बसाते हैं। निज-धाम श्रीवृन्दावन में बसते ही [उस जीव का स्वरूप बदल जाता है अर्थात् वह] पारस [रूप श्रीहरिवंश] का संग पाकर लोहे से स्वर्ण बन जाता है।

श्रीसेवक जी कहते हैं- हे श्रीहरिवंशचन्द्र! मैं अपने सच्चे मन से आपसे यही माँगता हूँ कि आप भी मुझे अपने मन में दासी स्वीकार कीजिये; क्योंकि आप सदा ही पूर्ण काम-हृदय हैं। हे निज दासि! (अर्थात श्रीप्रियाजी के केलि-कुञ्ज की विशेष अधिकारिणि और उनकी परम प्रिय सहचरि!) अब आप मुझ पर कृपा कीजिये। 'सेवक' इसी कृपा की आशा से तुम्हारे गुण और नामों का वर्णन करता है। [जिनकी कृपा से श्रीप्रियाजी के महलों की खास खबासी मिल सकती

है, उन] जगत् प्रकाशक, व्यास-कुल दीपक श्रीहित हरिवंशचन्द्र की सदा जय हो, मैं इन्हीं की चरण-शरण में हूँ।

टिप्पणी–

(i) ''गत कलि तिमिर समूहं निर्मल अकलंक उदित जगचंद्रं।''

सन्त महापुरुषों की महिमा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि' अर्थात् वे तीर्थों को सु-तीर्थ बनाते है,' क्योंकि सन्तों के हृदय में सर्वकाल श्रीहरि का निवास रहता है। और जहाँ श्रीहरि का नित्य निवास है, वहाँ कलियुग कैसे प्रवेश पा सकता है?

श्रीहरिवंशचन्द्र नित्य-निरन्तर श्रीकृष्ण प्राणाधिका रस भावाधिका श्रीराधिका के ध्यान में डूबे रहते हैं। सदा उन्हीं के नाम, रूप, गुण श्रवण में उन्मत्त बने रहते हैं और जो स्वयं प्रेम-स्वरूप हैं, उनके समीप कलियुग के पाप-ताप कैसे और क्यों जा सकते हैं? वे तो स्वयं प्रेम रूप चन्द्र हैं, जो निर्मल, कलंक रहित, नित्य उदित और परम प्रकाशमय हैं, जिससे अखिल विश्व प्रकाश पाता है और जो अपनी शान्ति और प्रेममयी शीतल किरणों से विश्व को शान्ति प्रदान करते हैं। अत: यह 'गत कलि----चन्द्रं' विशेषण दिया गया है।

(ii) 'कटे कर्म बंधन संसारी'-

यह जीव जब तक पूर्ण भाव से श्रीहरि की शरण नहीं लेता और भक्तिमान् नहीं बन जाता, तब तक वह जन्म-मरण के कारण रूप कर्म-बन्धन से नहीं छूट पाता। जिस किसी ने इन श्रीहरिवंशचन्द्र को प्रेम-प्रदायक तत्व समझ कर सर्व भाव से इनकी शरण ली, उसके कर्म बन्धन कट गये, क्योंकि यह निश्चय है कि भगवान् एवं सद्गुरु की शरण ग्रहण करने पर संसार भय (कर्म बन्धन) क्षीण हो जाता है; फिर

प्रेम के प्रगट अवतार श्रीहित चन्द्र का आश्रय लेने पर तो कहना ही क्या है?

'कटे कर्म बंधन संसारी' इसमें दूसरा भाव यह है कि प्रेम लक्षणा भक्ति के बिना अन्य साधनों से कर्म बन्धनों का पूर्ण रूप से क्षय (नाश) नहीं होता, ऐसा सभी संत एवं शास्त्रों का मत है।

(५)

इस अन्तिम छंद में फलस्तुति वर्णन करते हैं–

मूल–

पढ़त गुनत गुन नाम, सदा सतसंगति पावै।
अरु बाढ़ै रस रीति, विमल बानी गुन गावै॥
प्रेम-लक्षना भक्ति, सदा आनँद हितकारी।
श्रीराधा जुग चरन, प्रीति उपजै अति भारी॥
निजु महल टहल नव-कुंज में, नित सेवक सेवा करनं।
निसिदिन समीप संतत रहै, सु श्रीहरिवंश चरन सरनं॥

भावार्थ–

जो कोई श्रीहित हरिवंशचन्द्र के गुण एवं नामों को पढ़ेगा और मनन करेगा, वह सदा सत्संग, संत रसिकों का सङ्ग प्राप्त करेगा। श्रीहित हरिवंशचन्द्र की विमल वाणी का गान करने से रस-रीति बढ़ेगी और सदा आनन्दमय एवं हितकारी प्रेम लक्षणा भक्ति का [उसके हृदय में] उदय होगा। श्रीराधा के युगल चरणों में अत्यन्त प्रीति उत्पन्न होगी।

श्रीसेवकजी कहते हैं वह श्रीराधा के निज-महल (ऐकान्तिक निकुञ्ज-भवन) में सेवक रूप से सदा सेवा-टहल करेगा और अहर्निश श्रीहित हरिवंशचन्द्र का सामीप्य प्राप्त करेगा। ऐसे [परम प्रतापमय] श्रीहित हरिवंशचन्द्र की मैं चरण शरण में हूँ-वही मेरे एकमात्र सर्वाश्रय हैं।

॥ जै जै श्रीहरिवंश ॥

श्रीहित मंगल-गान

(द्वादश प्रकरण)

पूर्व परिचय-

इस प्रकरण में मंगलमय श्रीहरिवंशचन्द्र के मंगलमय नाम, रूप, गुण, प्रभाव एवं रहस्यादि का गान किया गया है, अत: इस प्रकरण का नाम 'मंगल-गान' है। इसके पृथक्-पृथक् चार छन्दों में से प्रथम में वृन्दावन विहार का स्वरूप, द्वितीय में श्रीहरिवंश की महान् गुणावली, तृतीय में इनके द्वारा प्रकाशित प्रेम धर्म की महत्ता और चतुर्थ में इनके नाम-गुण आदि गान करने का फल बताया गया है। चारों छन्दों में श्रीहरिवंश का स्वरूप-वर्णन ही पिरोया सा है। यह प्रकरण गम्भीर, विचारणीय और नित्य पठनीय है।

(१)

अस्तु; अब प्रथम छन्द में श्रीहरिवंश की रसिक अनन्य श्रेष्टता और उनके वृन्दावन का स्वरूप वर्णन करते हैं-

मूल–

जै जै श्रीहरिवंश व्यास कुल मंडना।
रसिक अनन्यनि मुख्य गुरु जन भय खंडना।
श्री बृंदावन बास रास रस भूमि जहाँ।
क्रीड़त स्यामा स्याम पुलिन मंजुल तहाँ॥
पुलिन मंजुल परम पावन त्रिविध तहाँ मारुत बहै।
कुंज भवन विचित्र सोभा मदन नित सेवत रहै॥

तहाँ संतत व्यासनंदन रहत कलुष बिहंडना।
जै जै श्री हरिवंश व्यास कुल मंडना।।

भावार्थ–

व्यास मिश्र के वंश के भूषण श्रीहरिवंशचन्द्र की जय हो। रसिक अनन्यों में मुख्य गुरुवर्य एवं अपने [आश्रित] जनों के भय का खण्डन करने वाले [श्रीहित हरिवंशचन्द्र] की सदा जय हो, जय हो। यमुना के सुन्दर तट पर जहाँ श्रीश्यामा-श्याम क्रीड़ा करते रहते हैं और जो रास-क्रीड़ा की रसमय भूमि है, उसी वृन्दावन में इनका नित्य निवास है। जिस परम-पवित्र पुलिन (यमुना-तट) पर सदा [शीतल, मंद एवं सुगन्ध युक्त] त्रिविध वायु बहता रहता है और जहाँ कुञ्ज भवनों की विचित्र शोभा है, कामदेव जिन कुञ्जों का निरन्तर सेवन करता है; ऐसे श्रीवृन्दावन में पापों को विनष्ट करने वाले व्यासनन्दन (श्रीहरिवंशचन्द्र) सदा-सर्वदा निवास करते रहते हैं; ऐसे व्यासकुल-भूषण श्रीहित हरिवंशचन्द्र की सदा जय हो, जय हो।

टिप्पणी–

''कुंज भवन विचित्र सोभा मदन नित सेवत रहै''–
'कुंज-भवन विचित्र सोभा' कहकर श्रीवृन्दावन निकुञ्ज की सर्वोपरि रमणीयता का दिग्दर्शन कराया कि यह शोभा सर्वापेक्षा विचित्र एवं उत्कृष्ट है। अन्य धामादिकों की समस्त शोभायें मिलकर इस शोभा के तुल्य नहीं है तो फिर श्रेष्ठ तो होंगी कहाँ से?

दूसरे, श्रीवृन्दावन में निरन्तर 'मदन' सेवन करता रहता है इसका यह आशय है कि श्रीवन में निरन्तर केवल प्रेम-विलास ही होता रहता है अन्य कुछ नहीं। युगल किशोर सदा-सर्वदा प्रेम-क्रीड़ा में ही मत्त रहते हैं; उन्हें प्रेम-क्रीड़ा के सिवाय और कुछ मानों रुचता ही नहीं।

निरन्तर यहाँ 'काम' समूह सेवन करता रहता है इसका वर्णन श्रीहिताचार्य पाद ने अपनी वाणी में भी किया है-

सेवत सगन प्रीति जुत दिन मीन-ध्वज-पुंज।

-हित चौरासी पद सं० ५७

यहाँ मदन, काम या मार शब्दों का गोपाल-तापिनी उपनिषद के वाक्य **'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यागमत् पृथाम्''** अर्थात् गोपियों के प्रेम को ही काम नाम से कहने की पुरानी परिपाटी चली आती है'' से 'प्रेम' ही अर्थ करना चाहिये। श्रीवृन्दावन की काम-क्रीड़ा प्रेम-क्रीड़ा है; जिसमें विश्व की उत्पत्ति, पालन, प्रलय, भोग, मोक्ष, पाप-पुण्य, दुःख-शोक आदि किसी का भी लगाव तक नहीं है। युगल किशोर इन सब बातों से अतीत होकर वृन्दावन प्रेम-विलास का सुख लेते हैं।

(२)

अब इस दूसरे छन्द में श्रीहरिवंशचन्द्र के अनुपम गुणों का वर्णन करते हैं-

मूल- **जय जय श्रीहरिवंश चंद्र उद्दित सदा।**
द्विज कुल कुमुद प्रकाश विपुल सुख संपदा।
पर उपकार बिचार सुमति जग विस्तरी।
करुणा सिंधु कृपाल काल भय सब हरी।।
हरी सब कलि काल की भय कृपा रूप जु बपु धर्यौ।
करत जे अनसहन निंदक तिनहुँ पै [1] अनुग्रह कर्यौ।

१.पाठान्तर- तिनहुँ कौ अनुग्रह कर्यौ।
प्राचीन प्रतियों में 'पै' की जगह 'कौ' पाठ मिलता है जो अर्थ के

निरभिमान निर्वैर निरुपम निष्कलंक जु सर्वदा।
जै जै श्रीहरिवंश चंद्र उद्दित सदा।।

भावार्थ–

सदा–सर्वदा उदित रहने वाले श्रीहरिवंशचन्द्र की जय हो, जय हो। जो [प्रेम रूपी] अनन्त सम्पत्ति से पूर्ण एवं द्विज समूह रूप कुमुदनी के प्रकाशक (विकसित करने वाले) हैं; जिन्होंने परोपकार के विचार से ही अपनी भक्ति रूपी सुन्दर मति (सद्‌बुद्धि) का जगत् में विस्तार किया और जिससे उन कृपालु करुणा सिन्धु [श्रीहरिवंश] ने काल–व्याल के समस्त भय का हरण कर लिया।

जिन्होंने कलिकाल के समस्त भय का हरण कर लिया उन्हीं ने कृपा रूप दिव्य वपु को धारण किया है। जो लोग आपकी असहनीय निन्दा करने वाले थे, आपने उन पर भी अपना अनुग्रह किया। जो अभिमान से रहित, वैर भाव से रहित, अनुपमेय एवं कलंक से रहित हैं, उन सर्वदा उदय रहने वाले चन्द्र श्रीहरिवंश की जय हो, जय हो।

टिप्पणी– (i) 'द्विज कुल कुमुद प्रकास'–

जिनका दो बार जन्म होता है वही द्विज कहे जाते हैं, वैसे तो फिर सभी शूद्र हैं–

जन्मना जायते शूद्रः संस्कारो द्विज उच्यते।

अर्थात् ''यों तो सभी मनुष्य जन्म के विचार से शूद्र ही हैं, वे तो संस्कारों के हो जाने से 'द्विज' कहे जाते हैं।''

विचार से अधिक उपयुक्त जँचता है। 'कौ' पाठ से इस पंक्ति का अर्थ होगा– 'उनको भी अनुगृहण (स्वीकार) किया जो अनसहन निन्दा करने वाले थे।' इस अर्थ में विशेषता यह है कि निन्दकों पर दया करने की अपेक्षा उन्हें स्वीकार करके अपना लेना अधिक महत्व प्रद है।

यहाँ 'द्विज' – द्विजन्मना का अर्थ यों होगा कि एक जन्म तो माता के गर्भ से हुआ और दूसरा हुआ भगवच्छरणागति से, जबकि वह अच्युत गोत्री कहलाया। इस आशय से द्विज वही है जो भगवच्छरणागत– वैष्णव, हित धर्मी और श्रीहरिवंश परायण है।

इन 'द्विज' रूप भक्त और रसिकों को प्रसन्न करने वाले चन्द्र श्रीहरिवंश आप हैं। यहाँ द्विज शब्द का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्णों से कदापि नहीं हैं क्योंकि श्रीहरिवंशचन्द्र ने तो द्विजाति के कर्मों का खण्डन करके प्रेमाभक्ति का प्रसार किया है तो फिर जिनके मत से वेदोक्त कर्म–काण्ड का खण्डन हुआ है, भला उनके अभ्युदय से कर्मठ द्विजातियों को प्रसन्नता क्यों होगी?

अतएव, यहाँ 'द्विज' पक्षी– चकोरवत् प्रेमी रसिक भक्त जन ही गृहणीय हैं और इन रसिक कुमुद रूपी द्विजों को विकसित करने वाले किंवा उनके समूह में प्रकट होने वाले चन्द्र श्रीहरिवंश ही हैं।

(ii) "कृपा रूप जु बपु धर्यौ"–

सन्त महात्मा गणों का प्राकट्य (जन्म) कर्मों के अधीन नहीं वरं स्वेच्छा से है। इसीलिये श्रीहरिवंशचन्द्र ने जीवों पर कृपा करने के लिये दया–परवश ही जन्म लिया है। इनका कृपा वपु तो केवल रसिक–जनों को रसमय युगल की प्रेम सम्पत्ति का दान करने के लिये ही प्रकट हुआ है, क्योंकि आवागमन से छुड़ा देने के लिये सत्य का मार्ग दिखाने के लिये तो अनेकों सन्तों का प्राकट्य हो चुका था, अतः इनकी आवश्यकता न थी किन्तु इनकी वस्तु (नित्य विहार) का दान तो केवल यही कर सकते थे, इसलिये स्वयं प्रकट हुए एतदर्थ आपका अवतार कृपा वपु है।

(iii) 'निरभिमान, निर्वैर निरुपम निष्कलंक जु सर्वदा'–

इस पंक्ति वाले छन्द की पूर्व पंक्ति है–

''करत जे अनसहन निंदक तिनहुँ पै अनुग्रह कर्यौ''–

अर्थात् निन्दकों पर भी आपने अपार अनुग्रह किया, उन्हें अपनी कृपा से पात्र बनाकर स्वीकार कर लिया और अपनी दिव्य सम्पत्ति नित्य विहार का उन्हें अधिकारी बना दिया। यह बात संत-गुण का प्रकाश करती है। ऐसे-ऐसे आपके अनन्त सद्गुण हैं उन सबकी गणना कौन कर सकता है, इससे निरभिमान निर्वैर--- आदि एक दो गुणों के नाम लेकर अनेकों की ओर संकेत किया गया है।

'निष्कलंक जु सर्वदा' जो सदा कलंक रहित हैं। जिनकी कीर्त्ति सदा धवल-स्वच्छ है, इससे अधिक और क्या कहा जाय? तात्पर्य यह कि आप अनुपम हैं।

यहाँ **'निरुपम निष्कलंक जु सर्वदा'** वाक्य गागर में सागर भरकर दिखाने जैसा कार्य है। पाठकगण विचार करें। यहाँ अल्पमात्रा में दो-चार गुणों का वर्णन संकेत करके 'निरुपम' और 'सर्वदा निष्कलंक चन्द्र' की उपमा से इतना बड़ा वर्णन है, जिसके अर्थ का अन्त नहीं हो पाता। फिर यदि कोई कुछ कहना चाहे तो कहे क्या?

मूल– (३)

जै जै श्री हरिवंश प्रसंसित सब दुनी,
सारासार विवेकित कोबिद बहुगुनी।
गुप्त रीति आचरन, प्रगट सब जग दिये,
ज्ञान-धर्म-व्रत-कर्म, भक्ति किंकर किये॥
भक्ति[1] हित जे सरन आये, द्वंद दोष जु सब घटे,
कमल कर जिन अभय दीने, कर्म बंधन सब कटे।

१. पाठान्तर- भक्त हित...।

परम सुखद सुसील सुंदर, पाहि स्वामिनि मम धनी,
जै जै श्री हरिवंश प्रसंसित सब दुनी॥

भावार्थ–

सम्पूर्ण विश्व के द्वारा प्रशंसित श्रीहित हरिवंशचन्द्र की जय हो, जय हो। ये परम कोविद, अत्यन्त गुणवान और परमार्थ तत्व के सार और असार रहस्य के परम विवेकी हैं। आपने गुप्त रीति के आचरणों (अर्थात् नित्य–विहार केलि की ऐकान्तिक रहनी और उपासना शैली) का प्रकाश करके सारे विश्व को दान कर दिया और इसी नित्य–विहार प्रकाश के द्वारा आपने ज्ञान, कर्म, धर्म और व्रत आदि को भक्ति का दास बना दिया।

जो लोग भक्ति की चाह से आपकी शरण में आये, उनके सारे द्वन्द्व–दु:ख क्षीण हो गये और जिसे इन्होंने अपना अभय कर–कमल प्रदान कर दिया उसके सारे कर्म–बन्धन कट गये।

श्रीसेवकजी कहते हैं, हे परम सुखदाता, सुशील, एवं सुन्दर स्वामिन्! हे मेरे समर्थ धनी! (प्रभु) मैं आपकी शरण में हूँ, आप मेरी रक्षा कीजिये। हे समस्त विश्व से प्रशंसित श्रीहरिवंश। आपकी जय हो, विजय हो!

टिप्पणी– (i) 'प्रसंसित सब दुनी'–

श्रीहरिवंशचन्द्र स्वयमेव प्रेम हैं, जो निराकार और साकार सभी रूपों में प्रत्येक प्राणी के अन्तर में विराज रहे हैं, इसलिये सबके हृदय देवता भी हैं। प्रत्येक प्राणी का सहज स्वभाव है कि वह प्रेम करता है, भले ही उसके प्रेम के केन्द्र भिन्न–भिन्न हों। यह भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति प्रेम को जाने–समझे बिना भी प्रेम करता हो; इन सब दशाओं में प्रेम सबके द्वारा पूज्य, आदणीय, प्रिय एवं प्रशंसित है।

यह तो व्यापक प्रेम की दृष्टि से कहा गया और दूसरे रूप से यह भी कहा जा सकता है कि श्रीहरिवंशचन्द्र श्रीवृन्दावन रसिक समाज के अग्रणी, रसिकाचार्य, परम भक्त, अनन्त गुण सम्पन्न, प्रेम स्वरूप, आश्रित और शरणागतजनों को श्रीराधाचरण माधुरी और भक्ति के दाता हैं। आपकी कीर्ति सब ओर विख्यात है, अतः 'प्रसंसित सब दुनी' हैं।

(ii) सारासार विवेकी–

सार और असार तत्व का विश्लेषण करके उत्तम (सार) तत्व को ग्रहण कर लेना ही विवेक है। आपने समस्त धर्म-कर्मों की निचोड़ नवधा-भक्ति में से भी सार रूप प्रेम लक्षणा भक्ति छाँटकर ले ली और उपास्य तत्वों में अनेक अवतारों के मूलरूप श्रीकृष्ण अवतारी तत्व और उनकी भी आराधनीया– सेव्या श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीकिशोरी जू को अपना सर्वस्व जाना है तथा यही बात दूसरों के लिये बतायी है। अतएव सब धर्म और उपासनाओं के सार तत्व प्रेम-लक्षणा के द्वारा श्रीराधा की प्रीति सम्पादन करना ही सारासार विवेक है।

(ii) 'ज्ञान, धर्म, व्रत, कर्म, भक्ति-किंकर किये'-

भक्ति अन्य धर्मों से तो श्रेष्ठ है ही, मोक्ष–कैवल्य परम पद से भी श्रेष्ठ है। भक्ति की यह श्रेष्ठता सर्वत्र प्रसिद्ध है; भले ही मतवादी लोग अपने-अपने मतों की प्रशंसा के पुल बाँधा करें और मन-गढंत डींगे हाँका करें किन्तु सन्त एवं शास्त्रों ने जो निर्णय दिये हैं; उनसे सिद्ध है कि भगवद्भक्ति के सामने सारे ज्ञान, धर्म, व्रत, कर्म, योग, वेद-पाठ आदि आदि साधन ऐसे हैं, जैसे सूर्य के सामने जुगनू।

आचार्य श्रीहित हरिवंशचन्द्र ने उसी प्रेम-लक्षणा भक्ति का प्रचार किया, जिसके सामने ज्ञान, धर्म, व्रत और कर्म आदि साधन भक्ति महारानी के दास हो गये।

अस्तु; अब यहाँ कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जिनसे सिद्ध होगा कि भगवद्भक्ति ही श्रेष्ठ है, और उसके सामने अन्य साधन कुछ नहीं के बराबर हैं-

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्ति रधोक्षजे।

-श्रीमद्भागवत १/२/६

अर्थात् "मनुष्यों के लिये वही परम धर्म है, जिससे अधोक्षज (श्रीकृष्ण) भगवान् में भक्ति हो जाय।"

और-

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्।।

-श्रीमद्भा० १/२/८

अर्थात् मनुष्यों का अच्छी प्रकार से अनुष्ठित किया हुआ धर्म भी यदि भगवान् मुकुन्द में प्रीति उत्पन्न नहीं करता तो वह केवल परिश्रम-मात्र ही है।

अन्यत्र-

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्ष साम्राज्य लक्ष्मीः।

अर्थात् "यदि भगवान् मुकुन्द के प्रति हमारी आनन्दमयी एवं घनीभूत भक्ति हो जाय तो फिर हमारे चरणों में मोक्ष साम्राज्य की लक्ष्मी लोटेगी।"

नारद भक्ति सूत्र में-

भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी।

अर्थात् ''केवल भक्ति ही श्रेष्ठ है।''

श्रीराधा-सुधा निधि में-

धर्माद्यर्थ चतुष्टयं विजयतां किं तद्वृथा वार्त्तया।

अर्थात् ''विजय को प्राप्त हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनकी व्यर्थ चर्चा से क्या प्रयोजन है?''

महात्मा सूरदासजी ने कहा है-

मुक्तिहू जहाँ लौन सी खारी लागै।

श्रीव्यासजी ने कहा है-

मुक्ति चारयौं जहाँ भरत पानी।

श्रीतुलसीदासजी ने कहा है-

अस विचारि जे संत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने।।

महाप्रभु श्रीहिताचार्य पाद के चरित्र में महात्मा उत्तमदासजी ने लिखा है कि आपने अन्य साधन धर्म, कर्म, व्रत आदि भक्ति के किंकर (दास) बना दिये-

ज्ञान, धर्म, व्रत, संजम जितने।
किंकर किये भक्ति के तितने।।

इसी प्रकार अन्यत्र सेवक-वाणी में ही श्रीसेवक जी ने भी कहा है-

साधन विविध सकाम मत-
सब स्वारथ सकल सबै जु अनीति।
ग्यान, ध्यान व्रत कर्म जिते सब,
काहू में नहिं मोहिं प्रतीति।।
रसिक अनन्य निसान बजायौ,
एक स्याम स्यामा-पद प्रीति।
श्रीहरिवंश चरन निजु सेवक,
विचलै नहीं छाँड़ि रस-रीति।।

इस प्रकार सब सन्तों एवं शास्त्रों के मत से भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है और अन्यान्य साधन हेय हैं किन्तु श्रीहिताचार्यपाद ने तो अपनी प्रेम-लक्षणा भक्ति से उन सब साधनों को परास्त करके किंकर (दास) बना रखा है।

(४)

श्रीहित की शरण में आकर उनका भजन करने से क्या होता है? फल-स्तुति के रूप में उसका वर्णन करते हैं-

मूल-

जै जै श्रीहरिवंश नाम गुन जो नर गाइ है।
प्रेम लक्षणा भक्ति सुदृढ़ करि पाइ है।
अरु बाढ़ै रसरीति प्रीति चित ना टरै।
जीति विषम संसार कीरति जग बिस्तरै।।
बिस्तरै सब जग बिमल कीरति साधु संगति ना टरै।
बास बृंदाविपिन पावै श्रीराधिका जू कृपा करैं।
चतुर जुगल किसोर सेवक दिन प्रसादहिं पाइ है।
जै जै श्री हरिवंश नाम गुन जो नर गाइ है।।

भावार्थ-

श्रीहरिवंशचन्द्र की जय हो, जय हो। जो मनुष्य श्रीहरिवंशचन्द्र के नाम एवं गुणों का गान करेगा, वह प्रेम-लक्षणा भक्ति को सुदृढ़ता पूर्वक प्राप्त करेगा, उसके चित्त में रस-रीति बढ़ेगी और प्रीति टाले नहीं टलेगी। वह भीषण संसार रूप आवागमन को जीतकर जगत् में अपनी कीर्त्ति विस्तृत करेगा।

सारे संसार में अपनी निर्मल कीर्ति का विस्तार करके वह अविचल साधु-संगति को प्राप्त करेगा। वह श्रीवृन्दावन का निवास प्राप्त करेगा और श्रीराधा उस पर कृपा करेंगी अथवा वह वृन्दाविपिनेश्वरी किशोरी जू की कृपा से वृन्दावन-वास प्राप्त करेगा।

श्रीसेवकजी कहते हैं कि युगल-किशोर का वह चतुर सेवक अपने प्रभु श्रीराधावल्लभलाल के कृपा प्रसाद को दिन-दिन (नित्य प्रति) प्राप्त करेगा, जो श्रीहरिवंशचन्द्र के नाम एवं गुणों का नित्य प्रति गान करेगा। अस्तु; ऐसे महिमाशाली श्रीहरिवंशचन्द्र की जय हो, जय हो।

टिप्पणी–

"चतुर जुगल किसोर सेवक दिन प्रसादहि पाइहै"-

चतुर सेवक वही है जो प्रसाद प्राप्त कर ले। 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' अर्थात् 'प्रभु की प्रसन्नता या कृपा का ही नाम प्रसाद है' और जो इस प्रसन्नता को-प्रभु कृपा को प्राप्त कर लेता है वही चतुर योग्य एवं परम बुद्धिमान् साधक है, भक्त है और सेवक-धर्मी है।

।। जै जै श्रीहरिवंश ।।

श्रीहित धर्मी धर्म विधान

(त्रयोदश प्रकरण)

पूर्व परिचय-

इस प्रकरण में राधावल्लभीय हितधर्मियों के परम-धर्म का उल्लेख किया गया है। इसमें प्रधानतया रसिक अनन्यता की दृढ़ता, धर्म के स्वरूप को समझने का आग्रह, रसिक अनन्यों के प्रति पूज्य और श्रेष्ठ भावना का आग्रह, मानव देह की महत्ता, सत्संग महिमा, सत्संग करने का आदेश, सत्संग विहीनता में जीवन की व्यर्थता, सत्संग किसका करे? सत्संग से क्या होगा? धर्मियों का स्वरूप एवं हित धर्मियों की कृपा की याचना-वाञ्छा; बस इन्हीं विषयों का एक-एक छन्द में वर्णन है।

इस प्रकरण में बड़ी सच्चाई और स्पष्टता से धर्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है; जिसका पालन करने से प्रत्येक हित-साधक सच्चा और पक्का धर्मी बन सकता है।

अस्तु; अब प्रथम छन्द में अन्यान्य साधनों का हेयत्व और हित धर्म- श्यामा श्याम पद प्रीति-की सर्वोपरिता का प्रकाश करते हुए हित धर्म को ही परम श्रेष्ठ धर्म बताते हैं; जो शास्त्र एवं संत-सम्मत है।

मूल- (१)

साधन विविध सकाम मत, सब स्वारथ सकल सबै जु अनीति।
ज्ञान ध्यान व्रत कर्म जिते सब, काहू में नहिं मोहि प्रतीति॥
रसिक अनन्य निसान बजायौ, एक स्याम स्यामा पद प्रीति।
श्रीहरिवंश चरन निज सेवक, विचलै नहीं छाँड़ि रसरीति॥

भावार्थ–

नाना प्रकार के साधन और सकाम उपासनाओं के मत, ये सब स्वार्थ–लाभ के लिये किये जाते हैं, इनमें शुद्ध स्वार्थ–रहित प्रेम का सर्वथा अभाव होता है अतः अनीति है। [इस प्रकार के] जितने भी ज्ञान, ध्यान, व्रत एवं कर्म हैं, मुझे इनमें से किसी पर भी विश्वास नहीं है। रसिक अनन्य [नृपति श्रीहित हरिवंश] ने जो केवल श्यामा–श्याम के चरणों के अनन्य प्रेम का डंका बजाया है; उस रसरीति को छोड़कर श्रीहरिवंश–चरणों का निज सेवक [मैं अथवा अन्य हितधर्मी कोई भी] विचलित नहीं हो सकता अर्थात् अनन्य भाव से उसी रसरीति में स्थिर रहेगा।

टिप्पणी– **काहू में नहिं मोहिं प्रतीति–**

अनन्य प्रेमी को अन्य साधन व्यर्थ से प्रतीत होने लगते हैं, क्योंकि वे उसे प्रेम–तत्व की प्राप्ति नहीं करा सकते। प्रेम तो केवल कृपा–साध्य है। श्रीहित हरिवंशचन्द्र ने कहा है–

दूरादपस्य स्वजनान्सुखमर्थ कोटिं,
सर्वेषु साधन वरेषु चिरं निराशः।

अर्थात् ''हमने समस्त स्वजन समुदाय, अनेक प्रकार के सुख–लाभ और महत्ताओं के कोटि–कोटि प्रकार को दूर से ही त्याग दिया है तथा समस्त श्रेष्ठ–श्रेष्ठ साधनों से भी चिर–निराश हो गये हैं।''

प्रेम साधन–सिद्ध नहीं है, अतः इसकी प्राप्ति में योग, यज्ञ, जप तप, ज्ञान–ध्यान आदि साधनों का कोई महत्व नहीं है। राय रामानन्दजी ने कहा है–

श्रीकृष्ण रस भाविता मतिः,
क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।

जन्मकोटि सुकृतैर्नलभ्यते,
लौल्यमपि मूल्य केवलम्॥

अर्थात् ''यदि कहीं श्रीकृष्ण रस से सराबोर मति मिले तो खरीद लो। किन्तु याद रखो वह कोटि-कोटि जन्मों के सुकृत से भी नहीं खरीदी जा सकता है उसका मूल्य तो केवल उसके प्रति लोलुपता ही है।''

अत: सेवक जी का किसी साधन में विश्वास न होना स्वाभाविक है और प्रेम प्राप्ति के इच्छुक साधक के लिये ऐसी ही मति बनानी आवश्यक है।

(२)

श्रीहरिवंश धर्म को समझने का आग्रह करते हैं-

मूल-

श्री हरिवंश धरंम प्रगट्ट, निपट्ट कै ताकी उपमा कौं नाहिन।
साधन ताकौ सबै नव लच्छन, तच्छिन बेग बिचारत जाहि न॥
जो रसरीति सदा अबिरुद्ध, प्रसिद्ध बिरुद्ध तजत्त क्यौं ताहि न।
जो पै धरंमी कहावत हौ, तौ धरंमी धरंम समुज्झत काहि न॥

भावार्थ-

श्रीहरिवंशचन्द्र के द्वारा प्रकट किया गया धर्म अच्छी तरह से उजागर है और सर्वश्रेष्ठ है, जिसकी उपमा के लिये कोई दूसरा है ही नहीं। इस धर्म के साधन हैं- वही नौ लक्षणों से युक्त नवधा भक्ति; अत: हे भाई! तू अभी इसी क्षण से शीघ्र जिसका विचार नहीं कर रहा है उसका विचार कर!

यह रसरीति सदैव साधक के अनुकूल है। जो इसके प्रसिद्ध विरोधी हैं, तू उनका त्याग क्यों नहीं करता? यदि तुम 'धर्मी' कहलाते हो तो [हित] धर्मियों के वास्तविक धर्म को क्यों नहीं समझते? अर्थात् समझने का प्रयास करो, समझो।

टिप्पणी–

(i) 'जो रस रीति सदा अबिरुद्ध'–

विषयी जीवों की विषयाभिमुखी वृत्तियों को विषयों की ओर से हटाने और रोकने वाले साधन उसे कुछ विपरीत से प्रतीत होते हैं और कष्टदायक भी किन्तु रस–रीति परम विशुद्ध प्रेम–धर्म होने पर भी विषय–सादृश्यता से विषयी जनों को भी रुचिकर और प्रिय है अत: अनुकूल है। दूसरी दृष्टि से यह कि नवधा भक्ति क्रियात्मक सरल होने से प्रेम लक्षणा भी सरल ही है।

भक्ति की सरलता में प्रह्लादजी ने कहा है–

कोऽति प्रयासोऽसुर बालका हरे–
रुपासने स्वेहृदि छिद्रवत्सत:।

– श्रीमद्भा॰ ७/७/३८

अर्थात् "हे असुर बालकों! श्रीहरि की उपासना में ऐसा कौन सा प्रयास (कष्ट) है? क्योंकि श्रीहरि तो अपने हृदय में आकाश की तरह स्थित हैं।"

इसके सिवाय इस रस–रीति में प्रत्येक प्राणी का मन अपने आप आकर्षित होकर लग जाता है, लगाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि यह रीति स्वयं रसरूपा है। अन्य साधनों में तो कोशिश करके मन को भगवान् में लगाना पड़ता है किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ युगल किशोर की रूप माधुरी, लीला माधुरी, केलि–माधुरी, धाम–माधुरी आदि में से किसी न किसी माधुरी में मन को फँसना ही पड़ता है इसलिये यह रस–रीति सदा अविरुद्ध–अनुकूल है।

(ii) "धरंमी धरंम समुज्झत काहि न" -

श्रीहरिवंश धर्म के मानने वाले ही यहाँ 'धर्मी' शब्द से सम्बोधि त किये गये हैं। इनके धर्म का वर्णन श्रीहिताचार्य की वाणियों में सर्वत्र

वर्णित है। धर्मी को चाहिये कि वह उन वाणी-ग्रन्थों का अवलोकन करके अपने अनन्य धर्म युक्त रसरीति को समझे। संक्षेप में श्री आचार्यपाद ने उस धर्म का दो दोहों में वर्णन कर दिया है–

सब सौं हित निष्काम मति बृंदावन विश्राम।
राधावल्लभलाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम।
तनहिं राखि सतसंग में मनहिं प्रेम-रस भेव।
सुख चाहत 'हरिवंश हित' कृष्ण कलपतरु सेव।।

(३)

जिसकी हरिवंश-धर्म से प्रीति नहीं, धर्मियों से मित्रता नहीं, श्रीहरिवंश नाम में रुचि नहीं और विरोधी जनों का संग है, वह धर्म के स्वरूप को नहीं समझ सकता–

मूल–

जौ पै धरंमिनि सौं नहिं प्रीति, प्रतीति प्रमानत आन न आनिबौ।
एकहिं रीति सबनि सौं हेत, समीति समेत समान न मानिबौ।।
बात सौं बात मिलै न प्रमान, प्रकृत्ति बिरुद्ध जुगत्ति कौ ठानिबौ।
श्री हरिवंश के नाम न प्रेम, धरंमी धरंम समुझ्यौ क्यौं जानिबौ।।

भावार्थ–

यदि [श्रीहरिवंश] धर्मियों से प्रीति और प्रतीति नहीं है और दूसरों को प्रमाण मानकर उन पर विश्वास करता है किन्तु धर्मियों के प्रति [अपने हृदय में] प्रीति एवं प्रतीति नहीं लाता है, यदि सभी मतावलम्बियों से एक ही रीति से हित करता है, हित-धर्मियों के प्रति विशेष समीति (प्रीति, स्नेह, मित्रता आदि) और सम्मान नहीं मानता; यदि श्रीहरिवंश-धर्मियों की बातों से अपनी बातें नहीं मिलाता और

अपनी हठधर्मी ही प्रमाणित करता है। यदि प्रकृति के विरुद्ध युक्तियाँ ठानता है और यदि श्रीहरिवंश के नाम से प्रेम नहीं है तो उस धर्मी ने धर्म के स्वरूप को क्या समझा है? कुछ नहीं ऐसा जानना चाहिये।

(४)

अत: हरिवंश-धर्मियों के ही संग करने का आग्रह करते हैं-

मूल–

श्रीहरिवंश बचन्न प्रमानिकैं, साकत संग सबै जु बिसारत।
संसृति माँझ बरियाइ कै पायौ, जु मानुष देह वृथा कत डारत।।
क्यौं न करत्त धरंमिनि कौ संग, जानि बूझि कत आन बिचारत।
जौ पै धरंमी मरंमी हौ तौ, धरंमिनि सौं कत अंतर पारत।।

भावार्थ–

[एक बार] श्रीहरिवंश के वचनों को प्रमाण मानकर [फिर दूसरी बार प्रमाद वश] शाक्त-उपासकों के संग में लगकर वे सब [श्रीहरिवंश वचनों की] बातें भुला देता है [और शाक्तों के जैसा ही हो जाता है।] अरे! तूने इस जन्म-मरण रूप संसृति के बीच में जाने कैसे किस कठिनाई से मानव-देह पा ली है; भला, उसे क्यों व्यर्थ किये डाल रहा है? तू धर्मियों का सङ्ग क्यों नहीं करता? क्यों जान बूझंकर उन्हें अन्य (पराया) समझ रहा है? यदि तू धर्म का मर्मी (रहस्य जानने वाला या जानने की इच्छा वाला है) तो फिर क्यों धर्मी जनों से अन्तर कर रहा है? शीघ्र उनसे एकता, मिलन एवँ सत्सङ्ग कर।

टिप्पणी– (i) 'साकत-संग'

भगवदुपासना के सभी क्षेत्रों में शाक्तों के सङ्ग का निषेध किया गया है।

कबीर संगत साधु की, जौ की भूसी खाय।
खीर खाँड़ भोजन मिलै, साकत संग न जाय।।

– कहकर श्रीकबीरदासजी ने भी साधकों को शाक्तों से दूर रहने का आदेश दिया है। श्रीव्यासजी ने तो यहाँ तक कह दिया–

''साकत भलौ न पूत।''

और

''करौ हरि! साकत कौ मुँह कारौ।''

प्रश्न उठता है कि तो फिर यह 'शाकत' है क्या?

शक्ति की उपासना करने वालों को शाक्त कहते हैं। इनमें जो सात्विक पद्धति से शक्ति की उपासना करते हैं उनकी बात दूसरी है; वरं जो लोग वाम-मार्ग की शैली से पञ्च-मकारों (मांस, मदिरा, मैथुन, महिष और मीन) का सेवन करते हैं, उन्हीं घोर तमोगुणी उपासकों को यहाँ 'साकत' कहा गया है।

यह शाक्त उपासना, परम विशुद्ध सत्वमयी भगवदुपासना से सर्वथा प्रतिकूल है, इसलिये वैष्णवों के लिये शाक्तों का संग सर्वथा अनर्थकारक, हेय और त्याज्य बताया गया है। श्रीसेवकजी ने तो यहाँ तक कह दिया कि –

''साकत संग अगन्नि लपट्ट, लपट्ट जरत्त क्यौं संगति कीजै?''

(ii) ''धरंमिनि सौं कत अंतर पारत'' –

श्रीहरिवंश-धर्म की प्राप्ति के लिये श्रीहरिवंश-धर्मीजनों का सङ्ग परमावश्यक है। इस सङ्ग के बिना धर्म का स्वरूप कदापि समझ में नहीं आ सकता अतएव धर्मीजनों से अपने चित्त का अन्तर (भेद) कर लेना महान् हानिकारक है। इस मर्म को समझकर श्रीहरिवंशचन्द्र के इन वचनों पर आरूढ़ होना चाहिये–

साधु सँगति करि अनुदिन राती।

धर्मियों का सङ्ग न करने वाले धर्मी को तो श्रीसेवकजी धर्मी ही नहीं मानते-

जो धरमिनि सौं प्रीति करत नहिं,
कहा भयौ धर्मी जु कहायौ?''

(५)

धर्मियों को क्या करना चाहिये? इसके उत्तर में श्रीहरिवंश वचनों का प्रबोध उपस्थित करते हैं-

मूल-

धरंमी-धरंम कह्यौ जु करौ, तौ धरंमिनि संग बड़ौ सब तैं।
अपुनर्भव स्वर्ग जु नाहिं बराबर, तौ सुख मर्त्य कहौ कब तैं॥
कहौ काहे प्रमान बचंन विसारत, प्रेमी अनन्य भये जब तैं।
तब श्रीहरिवंश कही जु कृपा करि, साँचौ प्रबोध सुन्यौ अब तैं॥

भावार्थ-

धर्मीजनों ने जो धर्म का स्वरूप कहा है यदि उसे तुम करने लगो तो [तुम्हें ज्ञात हो जायेगा कि] धर्मियों का सङ्ग ही सबसे बड़ा (उत्तम) है। अरे! जब उस [सत्सङ्ग] के बराबर अपुनर्भव (मोक्ष) एवं स्वर्ग भी नहीं हैं तो फिर भला मृत्युलोक के सुख कैसे बराबर हो सकते हैं? यदि कोई पूछे कि कहो जी, किन [वचनों] के प्रमाण से तुम [अन्य साधनों के समर्थक] वचनों को भुला रहे हो तो कहना होगा कि जब से हम [श्रीहरिवंश-वचनों के आधार से] अनन्य प्रेमी हो गये हैं और श्रीहरिवंशचन्द्र ने कृपा करके जो कुछ कहा है, हमने जबसे प्रबोध रूप उन सत्य वाक्यों को सुना है।

टिप्पणी:– **(i) ''अपुर्नभव स्वर्ग जु नाहिं बराबर'' -**

सत्संग की महिमा महान् है। परमार्थ-पथ के प्रत्येक पथिक और महानुभाव ने इसे प्रधान कहा है। श्रीहिताचार्य पाद ने भी कहा है-

साधु संगति करि अनुदिन राती।

और

जैश्री हित हरिवंश प्रपंच बंच सब काल व्याल कौ खायौ।
यह जिय जानि स्याम-स्यामा पद कमल संगी सिर नायौ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा उद्धव से कहते हैं–

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्व सङ्गापहो हि माम्॥

–श्रीमद्भा॰ ११/१२/१,२

अर्थात् ''उद्धव! समस्त आसक्तियों के निवारण करने वाले सत्संग से मैं जैसा वशीभूत होता हूँ वैसा योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्ट, पूर्त्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम नियम आदि किसी से नहीं होता।''

इस सत्संग की तुलना में कैवल्य और स्वर्ग के भी सुख तुच्छ हैं–

तुलयाम लवेनापि नस्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगि संगस्य किमुतान्यत् अतो हि ते॥

–श्रीमद्भा॰

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

–श्रीरामचरितमानस

सत्संग की इसी महिमा को लक्ष्य में रखकर सेवकजी ने धर्मियों का संग सबसे बड़ा बताया और उसी के सेवन करने की आज्ञा दी है।

(ii) साँचो प्रबोध –

श्रीगुरु-वचनों में विश्वास, अनन्य धर्म में निष्ठा और सत्सङ्ग में रुचि हो जाना ही सच्चा प्रबोध है, क्योंकि इसी से आगे चलकर प्रेम-तत्व की प्राप्ति हो जाती है। ऐसा सेवकजी का मत है।

(६)

जो सत्सङ्ग नहीं करते वे गुरुद्रोही हैं, मनमुखी हैं, वे अपना जीवन व्यर्थ कर रहे हैं और उनका धर्मी कहलाना भी व्यर्थ है-

मूल–

श्रीहरिवंश जु कही 'स्याम स्यामा' पद कमल संगी सिर नायौ।
ते न बचन मानत गुरु द्रोही, निसिदिन करत आपनौ भायौ॥
इत ब्यौहार न उत परमारथ, बीच ही बीच जु जनम गमायौ।
जौ धरंमिनि सौं प्रीति करत नहिं, कहा भयौ धर्मी जु कहायौ॥

भावार्थ–

[श्रीहरिवंश चन्द्र ने जो कुछ कहा है, उसे यहाँ उपरोक्त छन्द–

"कहौ काहे प्रमान.............प्रेमी अनन्य भये जब तें", के प्रमाण में उपस्थित करते हैं।] श्रीहरिवंश चन्द्र ने कहा है कि "मैंने श्रीश्यामा-श्याम के चरण-कमल प्रेमियों, भक्तों, रसिकों को अपना सिर झुका दिया है, पर गुरुद्रोही इन वचनों को मानते नहीं, दिन-रात अपनी मनमानी करते रहते हैं। (इसका परिणाम यह होता है कि) कि इधर (संसार में) उनका न तो व्यवहार बन पाता और न उधर परमार्थ ही बनता है। बस वे बीच में पड़े अपना जन्म खो देते हैं।

इस प्रकार यदि कोई धर्मी सच्चे हित धर्मियों से प्रीति और सङ्ग नहीं करता, तो उसके धर्मी कहला जाने मात्र से क्या हो गया? व्यर्थ है।

टिप्पणी– (i) गुरुद्रोही–

जो शिष्य अपने असद्गुरुवर्य्य की उचित आज्ञा की अवहेलना कर देता है तथा उनके उपदेशों के अनुसार नहीं चलता, वह गुरु-द्रोही कहा जाता है।

शिष्य परमार्थ पथ पर चलने की प्रतिज्ञा करके श्रीगुरुदेव के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है और उनसे अपने आत्म कल्याण की भीख माँगता है। दयालु गुरुदेव उसे उपदेश करते हैं किन्तु कभी कभी वह अज्ञानी माया-मुग्ध जीव उन्हीं की आज्ञा की अवहेलना ... देता है, मानो गुरु का द्रोह कर बैठता है। यहाँ पर श्रीहरिवंशचन्द्र के कथन-**"यह जिय जानि स्याम-स्यामा पर कमल संगि सिर नायौ"** इस वाक्य को न मान कर सत्सङ्ग का अनादर करने और सेवन न करने वाला नामधारी हित धर्मी ही गुरु-द्रोही है। वह गुरुद्रोह से तब मुक्त होगा, जब धर्मियों का सङ्ग करेगा।

(ii) इत ब्यौवहार न उत परमारथ–

गुरु द्रोही व्यक्ति व्यवहार (संसार-स्वार्थ) और परमार्थ (प्रभु-चरणों की प्राप्ति, प्रीति) दोनों से भ्रष्ट हो जाता है, अर्थात् उसे दोनों में से किसी की भी प्राप्ति नहीं हो पाती, क्योंकि उसने संसार से उदासीन होकर परमार्थ प्राप्त करना चाहा था, सो संसार तो स्वरूपतः छूट ही गया इसलिये वह संसार के भोगों से वञ्चित रहा, केवल वासना रह गयी और उधर परमार्थ पथ में सद्गुरु आज्ञा न मान कर सत्संग से विमुख हो गया, इसलिये सत्य तत्व रूप प्रभु की भी प्राप्ति नहीं हो पायी। उसकी दशा यों रही–

न खुदा ही मिला न विसाले सनम।
न उधर के हुए न इधर के रहे॥

(७)

धर्मी कौन है? जिसका सङ्ग करना चाहिये? अब इन बातों का उत्तर दे रहे हैं, जिसके लिये उपरोक्त छन्द में जोर दे आये हैं–

मूल–

करौ श्रीहरिवंश उपासिक संग,जु प्रीति तरंग सुरंग बह्यौ।
करौ श्रीहरिवंश की रीति सबै, कुल-लोक-बिरुद्ध जु जाइ सह्यौ॥
करौ श्रीहरिवंश के नाम सौं प्रीति, जा नाम प्रताप धरंम लह्यौ।
जु धरंमी धरंम सरूप कह्यौ, बिसरौ जिन श्रीहरिवंश कह्यौ॥७॥

भावार्थ–

तुम श्री हरिवंश के उस उपासक का सङ्ग करो जो प्रेम-तरङ्ग के सुन्दर आनन्द-रङ्ग में बह गया हो-सराबोर हो। तुम श्रीहरिवंश की (अनन्य धर्म सम्बन्धी) सभी रीतियों का पालन करो। यदि तुमसे अपने कुल एवं लोक का विरोध सहा जा सके तो। श्रीहरिवंश के नाम से प्रेम करो, जिस नाम के प्रताप से तुमने धर्म को प्राप्त किया है और धर्मियों के धर्म का स्वरूप जो कुछ श्रीहरिवंश ने कहा है, उस (श्रीहरिवंश कथन-**"स्याम-स्यामा पद कमल संगी सिर नायौ"**) को मत भूलो।

(८)

श्रीहरिवंश धर्मी ही कृपा करके साधक के हृदय में प्रेम और रस उत्पन्न करेंगे–

मूल–

श्रीहरिवंश धरंम जे जानत, प्रीति की ग्रंथि तहीं मिलि खोलत।
श्रीहरिवंश धरंमिनि माँझ, धरंमी सुहात धरंम लै बोलत॥

श्रीहरिवंश धरंमी कृपा करैं, तासु कृपा रस मादिक डोलत।
श्रीहरिवंश की बानी समुद्र कौ, मीन भयौ जु अगाध कलोलत॥८॥

भावार्थ–

जो रसिकजन श्रीहरिवंश धर्म को जानते हैं, वही विज्ञ रसिकजन मिलकर प्रीति की ग्रन्थियों (गाँठों, उलझनों) को सुलझा सकते हैं, अन्य नहीं। वही लोग श्रीहरिवंश धार्मियों के बीच में धर्मियों को सुहाती हुई धर्म-युक्त बातें बोल भी सकते हैं। यदि ऐसे हरिवंश धर्मी कृपा करें, तो उनकी कृपा से प्राय: सभी उपासक रस से उन्मत्त होकर विचरण कर सकते हैं। फिर जो कृपा-प्राप्त कर लेगा, ऐसा प्रेमी श्रीहरिवंश की वाणी रूप समुद्र की मछली बनकर उस अगाध रस-सागर में किलोल (आनन्द-क्रीड़ा) करता रहेगा।

(९)

जिनकी कृपा से प्रेम-तत्त्व प्राप्त होता है, उन धर्मी महानुभावों का स्वरूप क्या है? इस बात को स्पष्ट करते हैं–

मूल–

व्रत संजम कर्म जु धर्म जिते, सब सुद्ध-बिरुद्ध पिछानत हैं।
अपनी अपनी करतूत करैं, रस मादिक संक न आनत हैं॥
हरिवंश-गिरा रस रीति प्रसिद्ध, प्रतीति प्रगट्ट प्रमानत हैं।
बलि जाउँ आपनैं धरंमिनि की, जे धरंमी धरंमहिं जानत हैं॥९॥

भावार्थ–

जितने भी व्रत, संयम, कर्म आदि सुन्दर-सुन्दर धर्म हैं, वे सब इस शुद्ध धर्म (श्रीहित धर्म) के विरोधी (विपरीत रूप) हैं, ऐसा वे धर्मी गण समझते हैं और चूँकि ये उक्त अपनी-अपनी करतूत (कर्त्तव्य) करते भी हैं किन्तु रस से उन्मत्त धर्मी गण उनकी जरा भी परवाह नहीं

करते वरं वे तो श्रीहरिवंश की वाणियों में वर्णन की गयी रस-रीति को ही विश्वास पूर्वक प्रकट रूप से प्रमाणित करते और मानते हैं।

श्रीसेवकजी कहते हैं कि मैं अपने इन धर्मियों की बलिहारी जाता हूँ, जो धर्मी एवँ धर्म के तत्व को जानते पहचानते हैं।

टिप्पणी– 'धरंमी धरंमहिं जानत हैं'–

श्रीहरिवंश-धर्म लोक वेद विलक्षण है, क्योंकि विशुद्ध प्रेम-मार्ग है। यह नित्य विहार-रस वेद, शास्त्र एवं लोक की किन्हीं भी मर्यादाओं से आबद्ध नहीं है। यह समस्त साध्य और साधनों से परे और मोक्ष–कैवल्य से भी अतीत है।

इसके समक्ष, कर्म, धर्म, यज्ञ, जप, तप, होम, दान, ज्ञान, योग, सांख्य, वेद-पाठ आदि धर्मों की कोई महत्ता नहीं है। ये सब सामान्य धर्म उस अनन्य प्रेम-धर्म के लिये अनावश्यक तो हैं ही अपितु विरोधी भी हैं, क्योंकि प्रेम में किंचिन्मात्र भी अन्याश्रय एवं व्यवधान, अन्तराय रूप माना गया है। स्वयं श्रीहिताचार्य पाद ने धर्मादि चार पदार्थों को हेय कह दिया है अनन्य प्रेमी के लिये–

धर्माद्यर्थ चतुष्टयं विजयतां किं तद् वृथा वार्त्तया?

और–

वृथा श्रुति कथाश्रमो बत विभेमि कैवल्यतः

अर्थात् "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनकी व्यर्थ चर्चा से क्या प्रयोजन?" एवँ वेद-कथा व्यर्थ हैं, अरे! हम तो कैवल्य पद से भी डरते हैं।"

अतएव यह धर्म इतना ही है कि अनन्य भाव से युगल सरकार से केवल प्रेम ही करे। उस धर्म में सिवाय प्रेम के और कुछ न मिलावो। इस धर्म के जानने वाले ही सच्चे धर्मी हैं जो बलिहार के योग्य हैं।

(१०)

अब ऐसे धर्मियों की कहनी-जीवनी के वर्णन द्वारा उनका परिचय देते हैं–

मूल–

श्रीहरिवंश धरंम सुनंत जु छाती सिरात धरंमिनि की।
धरंम सुनंत पुलक्कित रोंमनि हौं बलि प्रेम धरंमिनि की॥
धरंम सुनंत प्रसन्न ह्वै बोलत, बोलनि मीठी धरंमिनि की।
(जु) धरंम सुनाइ धंरमहि जाचत, चाहौं कृपा जु धरंमिनि की॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश धर्म का वर्णन सुनते ही सच्चे धर्मी का हृदय शीतल हो जाता है। जो इस धर्म को सुनकर रोम-रोम से पुलकित हो उठता है, मैं ऐसे प्रेमी-धर्मी की बलिहार हूँ। ऐसा प्रेमी निज धर्म का नाम सुनते ही प्रसन्न होकर बोलता है और उसकी बोली (वाणी) भी बड़ी मधुर होती है। जो धर्मी गण धर्म का श्रवण कराके फिर धर्म (की प्रीति, रुचि आदि) की ही याचना करते हैं मैं ऐसे ही धर्मियों की कृपा चाहता हूँ।

(११)

श्रीहरिवंश-धर्म की श्रेष्ठता का निरूपण करते हुए प्रकरण का उपसंहार करते हैं–

मूल–

श्रीहरिवंश प्रसिद्ध धर्म समुझै न अलप तप।
समुझौ श्रीहरिवंश कृपा सेवहु धर्मिनि जप॥
धर्मी बिनु नहिं धर्म नाहिं बिनु धर्म जु धर्मी।
श्री हरिवंश प्रताप मरम जानहिं जे मर्मी ॥

श्री हरिवंश नाम धर्मी जु रति तिन सरन्य संतत रहै।
सेवक निसिदिन धर्मिनि मिलैं श्रीहरिवंश सुजस कहै॥११॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश चन्द्र का प्रसिद्ध धर्म अल्प तपस्या से कोई नहीं समझ सकता, हाँ जब धर्मी जनों का सेवन (रूप महातप) करोगे, तभी श्रीहरिवंश कृपा का स्वरूप समझौगे। क्योंकि सच्चे धर्मी के बिना धर्म की प्राप्ति नहीं होती और जहाँ (जिसके हृदय में) धर्म नहीं है वह धर्मी नहीं, श्रीहरिवंश के प्रताप से ही कोई मर्मी इस रहस्य (मर्म) को जान पाते हैं अथवा धर्म और धर्मी के इस मर्म को जो जानते हैं वही मर्मी हैं।

श्रीसेवकजी कहते हैं कि प्रत्येक सेवक का धर्म है कि श्रीहरिवंश नाम के मानने वाले धर्मियों के प्रति जो रति (प्रीति) करता है उन्हीं की शरण में वह सदा रहा आवे और दिन रात धर्मियों से मिलकर (उनका सत्संग करते हुए) श्रीहरिवंश के सुयश का गान करता रहे।

टिप्पणी–

(i) श्रीहरिवंश प्रसिद्ध धर्म समुझै न अलप तप[१]।

---

१. यहाँ 'तप' का अर्थ शरीर को सुखाने वाले साधन जैसे पञ्चाग्नि तापना, जल में खड़े रहना, शीत-उष्ण सहना, एक पैर से खड़े होना, शीर्षासन करना इत्यादि से नहीं है। वरं महान तप रूप सुकृत–सत्संग से है, जिसके बिना भक्ति या प्रेम कभी मिल ही नहीं सकता।

समस्त शास्त्र और सन्तों का यही एक मत है कि भक्ति या प्रेम तपस्या से नहीं मिलते, सत्सङ्ग से मिलते हैं। अतएव यहाँ पर 'अलप तप' का आशय किञ्चित काल का सत्सङ्ग ऐसा किया जाना चाहिये या अल्प तप रूप अन्य साधन वर्ग।

अल्प-तपी लोग प्रसिद्ध धर्म- प्रेम को सत्संग के बिना नहीं समझ सकते। इसे समझने के लिये बहु-कालीन सत्संग रूपी महातप की आवश्यकता है। तप के अर्थ का स्पष्ट रूप यहीं अगली पंक्ति में दिया गया है- **'समुझौ श्रीहरिवंश कृपा सेवहु धर्मिन जप'**

(ii) इस सम्पूर्ण प्रकरण में आदि से अन्त तक धर्मियों के सङ्ग करने का आदेश किया गया है। क्योंकि इसके बिना धर्म का स्वरूप नहीं समझा जा सकता और न धर्म में निष्ठा हो सकती। अत: 'धर्मी धर्म-विधान' अर्थात् धर्मी के धर्मों का विधान-संक्षिप्तार्थ में केवल सत्सङ्ग ही है।

।। जै जै श्रीहरिवंश ।।

श्रीहित काचे धर्मी धर्म विधान

(चतुर्दश प्रकरण)

पूर्व परिचय–

तेरहवें प्रकरण में हित–धर्मियों के लिये उनके परम धर्म–सत्सङ्ग का आदेश किया गया। अब इस प्रकरण में कच्चे धर्मियों के स्वभाव, गुण, रहन–सहन, व्यवहार, आचरण, उपासना शैली, निष्ठा, धार्मिक रुचि, छल, द्वेष, घृणा, निन्दा, स्वार्थ आदि की ओर संकेत किया जा रहा है, क्योंकि बुराइयों और बुरों का परिचय होने पर ही उनका त्याग किया जाना सम्भव है।

कच्चे धर्मी वे हैं, जो गुरु दीक्षा, कण्ठी, तिलक आदि के द्वारा बाह्य आचरणों से वैष्णव तो बन चुके हैं–वैष्णव या राधावल्लभीय तो कहे जाने लगे हैं किन्तु उनके चित्त में न तो भक्ति भावना ही आयी और न इष्ट–निष्ठा (वैष्णवता) ही बन पायी, अत: ऐसे लोग जो केवल नाम मात्र को 'हित धर्मी' हैं 'काचे' धर्मी हैं। इस प्रकरण के पूर्व प्रसंग में काचे धर्मियों के लक्षणों का वर्णन है और अन्त में उनके लिये उचित उपदेश है, इसीलिये इस प्रकरण का सम्पूर्ण नाम "काचे धर्मी धर्म विधान" है। प्रकरण के प्रारम्भिक तेरह छन्दों में काचे धर्मियों के लक्षण और शेष अन्त के पाँच छन्दों में 'काचे' धर्मियों के लिये उपदेश है–यही उनके लिये 'विधान' है।

अस्तु अब प्रथम छन्द में 'काचे धर्मी' की अहंमन्यता रूप छल–छन्द का वर्णन करते हैं–

मूल– (१)

श्रीहरिवंश धरंमिनि के सँग,
आगैं ही आगैं जु रीति बखानत।

आपुने जान कहैं जु मिलैं मन,
उत्तर फेरि चवग्गुन ठानत॥
बैठत जाय बिधर्मिनि में तब,
बात धरंम की एकौ न आनत।
काचे धरंमिनि के सुनौ छंद,
धरंमी धरंम मरंम न जानत॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश–धर्म का स्वरूप यथार्थ रूप से न जानने पर भी सच्चे श्रीहरिवंश–धर्मियों के सङ्ग में बैठकर उन सबके समक्ष आगे ही आगे (पूर्ण जानकार की तरह) रस–रीति का बखान करता है। धर्मियों को अपना जानकर उनसे प्रथम तो अपनी मनमिल बातें करता है किन्तु पश्चात् (बातों में सिद्धान्त भेद हो जाने पर) उन्हीं से चौगुने उत्तर ठानता है। धर्मियों से तो बहुत विवाद करता है किन्तु जब विधर्मियों में जा बैठता है, तब धर्म–सम्बन्धी एक बात भी नहीं कह आती।

(श्रीसेवकजी कहते हैं भाइयो!) इन कच्चे धर्मीजनों के (छल) छन्द सुनो। ये लोग सच्चे धर्मी जनों के धर्म का मर्म (रहस्य) नहीं जानते।

टिप्पणी–

(i) काचे धरंमिनि के सुनो छंद धरंमी धरंम मरंम न जानत

छन्द शब्द का अर्थ छल या पाखण्ड है। जो बात जैसी कुछ है, उसे ठीक उसी रूप में प्रकट न करने वाले को पाखण्डी और ऐसे छल–धर्म को पाखण्ड कहते हैं। इस पद में काचे धर्मी के तीन छलों का संकेत है–

(१) धर्म के विषय में अनभिज्ञ होने पर भी अपने आपको विज्ञ साबित करना।

(२) धर्मियों को केवल जबानी अपना कहना और फिर पराया मानकर उनसे लड़ाई करने लगना।

(३) विधर्मियों में जा मिलकर अपने धर्म की निष्ठा स्पष्ट न कर सकना या उसमें सन्देह रखना।

यही कच्चाई इन्हें 'कच्चे धर्मी' का पद देती है कि ये स्वधर्म के सच्चे मर्मी और निष्ठावान् नहीं हैं। उचित यह है कि इस छल-छन्द को छोड़कर सच्चे धर्मी बनें और धर्म का मर्म समझें।

मूल– (२)

बातनि जूठनि खान कहैं,
मुख देत प्रसाद अनूठौइ ही छाँड़त।
ग्रंथ प्रमानिकै जो समुझाइये,
तौ तब क्रोध रारि फिर माँड़त॥
तच्छिन छाँड़ि प्रेम की बातहिं
फेरि जाति कुल रीति प्रमानत।
काचे धरंमिनि के सुनौ छंद,
धरंमी धरंम मरंम न जानत॥

भावार्थ–

वह कच्चा धर्मी केवल बातों बातों (वचनों) में (धर्मियों) का उच्छिष्ठ (जूँठा) खाने की बात कहता है (कि मैं तो आप धर्मी-जनों का जूँठा भी खा सकता हूँ,) किन्तु अनूठा (सर्वोत्तम, आश्चर्य महिमा मय) प्रसाद देने पर भी त्याग देता है। यदि ग्रन्थों के प्रमाण द्वारा उसे (प्रसाद का महत्त्व) समझाया भी जाय, तो फिर वह उसके बदले में क्रोध पूर्वक झगड़ा ठान देता है। (फिर कभी क्रोध आ जाने पर) प्रेम

की सब बातें भुलाकर अपनी जाति, कुल-रीति आदि की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने लगता है अर्थात् भगवत्प्रासाद की अपेक्षा जाति, कुल-रीति आदि अधिक महत्त्वशील हैं, ऐसा सिद्ध करने लगता है।)

यही सब कच्चे धर्मियों के छल छन्द हैं। ये लोग सच्चे धर्मियों के वास्तविक धर्म का मर्म नहीं जानते।

मूल- (३)

धरंमिनि माँझ प्रसंन ह्वै बैठत,
जाय बिधर्मिन माँझ उपासत।
लालच लागि जहाँ जैसे तहाँ तैसे,
सोई सोई तिन मध्य प्रकासत॥
बादहिं होत कुम्हार कौ कूकर,
खाली हृदै गुरु रीति न मानत।
काचे धरंमिनि के सुनौ छंद,
धरंमी-धरंम मरंम न जानत॥

भावार्थ-

(वह कच्चा धर्मी) इधर तो हित धर्मियों में प्रसन्न होकर बैठता अर्थात् इनकी सी बातें करता है और उधर विधर्मियों में जाकर उनकी सी उपासना करता है। लालच के लिये उन विधर्मी-जनों का सङ्ग करता है और उन जैसी बातें करने लगता है। प्रकाशित करने और न करने योग्य सभी विषयों को एकसा समझ कर अविचार पूर्वक प्रकाशित कर देता है। वह शून्य-हृदय (धर्म के यथार्थ ज्ञान से हीन कच्चा धर्मी) श्रीगुरु की रीति तो मानता नहीं (और दूसरों की उपासना भी नहीं करता) इस तरह व्यर्थ ही कुम्हार का कुत्ता बनता है। ये हैं कच्चे धर्मियों के छल-छन्द। सुनो, ये लोग धर्मियों के धर्म के मर्म को नहीं जानते और व्यर्थ जीवन खो देते हैं।

टिप्पणी— बादहिं होत कुम्हार कौ कूकर—

यह एक मुहाविरा है, जिसका अर्थ है उभय भ्रष्ट। भाव यह कि वह कच्चा धर्मी रहता तो है हित धर्मियों में, किन्तु उपासना करता है विधर्मियों में और लालच-वश जहाँ-तहाँ उपासना के मर्म का प्रकाश करता फिरता है, किन्तु गुरु उपासना पर उसकी श्रद्धा-निष्ठा नहीं है। गुरु-वचनों पर जिसकी श्रद्धा नहीं—विश्वास नहीं, वह भला कैसे किसी प्रकार की सिद्धि पा सकेगा?

इस प्रकार वह कच्चा धर्मी गुरु-रीति को न मानने और अपने धर्मियों का सङ्ग न करने से अपने इष्टदेव को न पा सका, दूसरे विधर्मियों से जा मिलने और उनसे थोड़ी बहुत उपासना सीख साख कर करने से वहाँ भी पूर्ण लाभ प्राप्त न कर सका अतएव कुम्हार के कुत्ते की तरह दोनों ओर से गया।

कुम्हार के कुत्ते के दृष्टान्त का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है—

कुम्हार के घर जब कोई यात्री हण्डी खरीदने आता है और पात्र ले जाकर नदी-तट पर रसोई बनाता है, तब उनके साथ लगे कुम्हार का कुत्ता भी भोजन की आशा से नदी तट पर चला जाता है। यात्री भोजन तैयार कर, खा-पीकर चले जाते हैं पर कुत्ते को कुछ नहीं देते इसलिये कि यह कुम्हार का पाला हुआ कुत्ता है वह इसे भोजन देगा हम क्यों दें? यात्रियों से निराश और भूखा कुत्ता जब कुम्हार के घर आता है, तो वह भी उसे इसलिये रोटियाँ नहीं देता कि यह यात्रियों के पास का जूँठा-कूँठा खाकर पेट भर कर आया है, अतः क्या आवश्यकता है देने की? इस तरह उसे दोनों ओर से भूखा रहना पड़ता है, बस यही दशा उस 'काचे'-धर्मी की है जो—

धरंमिनि माँझ प्रसन्न है बैठत,
जाइ विधर्मिन माँझ उपासत।

मूल–

(४)

नाना तरंग करत छिन ही छिन,
रोवत रैंट न लार सँभारत।
तच्छिन प्रेम जनाइ कहंत जु,
मेरी सी रीति काहे न अनुसारत॥
तच्छिन झगरि रिसाइ कहंत जु,
मेरी बराबर औरनि मानत।
काचे धरंमिनि के सुनौ छंद,
धरंमी-धरंम मरंम न जानत॥

भावार्थ–

वे कच्चे धर्मी क्षण-क्षण में नाना प्रकार की लीलायें करते हैं। ऐसा रोते हैं कि रोते हुए जोर से दहाड़ सी मारते और मुँह से गिरती हुई लार को भी नहीं सम्हालते, (क्योंकि इसीसे तो उनकी प्रेम-विह्वलता प्रकट होती है न!) फिर उसी क्षण दूसरों से अपना प्रेम प्रकट करते हैं कि तुम भी मेरी ही जैसी रीति का अनुसरण क्यों नहीं करते? (अर्थात् करो, क्योंकि यही वास्तविक प्रेम है) फिर उसी क्षण उन्हीं लोगों से क्रोध में भरकर कहने लगता है कि तुम लोग मेरे बराबर औरों को मानते हो? (अर्थात् मैं ही सर्वश्रेष्ठ प्रेमी हूँ, मेरे बराबर प्रेमी और हो ही कौन सकता है?)

(श्रीसेवकजी कहते हैं) कि इन कच्चे धर्मियों के छल-छन्द सुन लो, ये लोग धर्मियों के धर्म का मर्म नहीं जानते वरं विचित्र पाषण्ड करते हैं।

(५)

अपनी श्रेष्ठता की डींग हाँकता है कि–

मूल–

मेरौ सौ प्रेम मेरौ सौ कीरंतन,
मेरी सी रीति काहे अनुसारत।
मेरौ सौ गान मेरौ सौ बजाइबौ,
मेरौ सौ कृत्य सबै जु बिसारत।।
छाँड़ि मर्जाद गुरून सौं बोलत,
कंचन काँच बराबर मानत।
काचे धरंमिनि के सुनौ छंद
धरंमी-धरंम मरंम न जानत।।

भावार्थ–

(कितने एक कच्चे धर्मी अपने प्रेमीपने का ढोंग दिखा कर दूसरों से कहते हैं कि–) "मेरे जैसा प्रेम-भाव, मेरे जैसा कीर्त्तन-भजन और मेरे ही जैसी सभी रीतियों का तुम लोग अनुसरण क्यों नहीं करते ? क्योंकि मेरे जैसा गान, मेरे जैसे वाद्य बजाना और मेरे जैसे सारे कृत्य ऐसे हैं कि जो (तुमको प्रेम में तन्मय करके) अन्य अब (संसार) को भुला देते हैं।

ऐसे कहने वाले कच्चे धर्मी लोग अपने को श्रेष्ठ समझ कर शास्त्रीय मर्यादा का भी त्याग करके गुरु जनों से (बेतुकी अमर्यादित) बातें करते हैं। वे मूर्ख स्वर्ण और काँच को एक सा समझते हैं भाव यह कि–श्री गुरु चरणों का महत्त्व न जानकर उन्हें साधारण मनुष्य मान कर उन्हीं से अहंकार पूर्वक बातें करते हैं। यही सब कच्चे धर्मियों के छल-छन्द है, सुनो! ये लोग सच्चे धर्मियों के धर्म का मर्म नहीं जानते।

टिप्पणी– "छाँड़ि मर्जाद गुरून सौं बोलत,
कंचन-काँच बराबर मानत"–

शिष्य को श्रीगुरुदेव के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये इसका वर्णन अनेकों शास्त्रों और सन्तों ने अनेक स्थलों में किया है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के ये कुछ वाक्य सूत्र रूप से गुरु शिष्य की व्यवहार परम्परा को भली प्रकार से समझा देते हैं–

आचार्यं मां विजायानीन्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्य बुद्ध्यासूयेत् सर्व देव मयो गुरुः॥
सायं प्रातरुपानीय भेक्ष्य तस्मै निवेदयेत।
यच्चान्यदप्यनु ज्ञातमुप युञ्जीत संयतः॥
शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीच वत्।
यान शय्यासन स्थानैर्नाति दूरे कृताजलिः॥

–श्रीमद्भा॰ ११।१७।२७,२८,२९

अर्थात्– ''आचार्य को मेरा ही स्वरूप समझो। उनका कभी निरादर न करे और न कभी साधारण मनुष्य समझ कर उनकी किसी भी बात की उपेक्षा या अवहेलना ही करे; क्योंकि गुरुदेव सर्व देवमय हैं। प्रातःकाल और सायंकाल जो कुछ भी भिक्षा में मिले उसे गुरु के समीप निवेदित कर दे और फिर उनकी आज्ञानुसार संयम-पूर्वक भोजन करे। आचार्य यदि जाते हों, तो उनके पीछे-पीछे चले। यदि शयन करते हों, तो सावधानी पूर्वक थोड़ी ही दूर पर सोवे। यदि थके हों, तो पास बैठकर चरण दबावे और बैठे हों, तो आदेश की प्रतीक्षा में हाथ जोड़ कर पास ही खड़ा रहे। इस प्रकार अत्यन्त विनम्र की भाँति सेवा शुश्रूषा करते हुए आचार्य की आराधना करे।''

परब्रह्म स्वरूप सच्चिदानन्दघन ज्ञान मूर्त्ति श्रीगुरुदेव के परम-स्वरूप को न जानने के कारण ही असन्मति शिष्य उन्हें साधारण मनुष्य मानते हैं और अवहेलना किंवा तिरस्कार कर बैठते हैं। वह मूर्ख उनके कञ्चनवत् स्वरूप को न जानकर ही साधारण मनुष्यों से उनकी समता करते हैं। यही 'कंचन काँच बराबर'' मानना है।

अस्तु; ऐसा व्यक्ति सत्य-तत्व की प्राप्ति नहीं कर सकता, अतः साधक को इस गुरु-अपराध रूप भीषण अग्नि से बचना चाहिये।

(६)

कुछ लोग अपने को दूसरों का हितैषी निज-जन प्रकट करते हैं तथा अन्य जनों से श्रेष्ठ प्रेमी उपदेशक और महात्मा भी। अब एक छन्द में ऐसे लोगों का स्वरूप परिचय कराते हुए उनके छल छन्दों से सच्चे साधक को सावधान करते हैं-

मूल-

देखे जु देखे भले जु भले तुम,
आपनौ और परायौ न जानत।
हौं जु सदा रसरीति बखानत
मेरी बराबर ठागनि मानत।।
कैसे धौं पाऊँ तिहारे हृदै कौं,
आन द्वार के मोहि न जानत।
काचे धरंमिनि के सुनौ छंद,
धरंमी-धरंम मरंम न जानत।।

भावार्थ–

(कुछ कच्चे धर्मी अपने को किसी का श्रेष्ठ हितैषी प्रकट करते हुए कहते हैं–) "अजी! देख लिया, खूब देख लिया, तुम बड़े भले हो, बड़े सीधे हो। इतने सीधे कि तुम्हें अभी अपने और पराये का भी बोध नहीं है, कि तुम्हारा अपना कौन है और पराया कौन? अर्थात् मुझको भी पराया मान रहे हो, जो एक दम तुम्हारा अपना हूँ। मैं जो सदा रस-रीति का बखान करता रहता हूँ, मेरी बराबरी में उन ठगों को (जो तुम्हें लूटते रहते हैं) मानते हो। (अर्थात् वे मेरे तुल्य तुम्हारे हितैषी नहीं हैं।) मैं (तो तुम्हारा इतना हितैषी हूँ और तुम मुझे अपना समझते ही नहीं) अब तुम्हारे हृदय (के प्रेम) को कैसे पाऊँ? (क्योंकि तुम तो मुझे अपना समझते ही नहीं और मैं तुम्हारा इतना अनन्य मित्र हूँ कि केवल तुम्हीं से मेरा परिचय है) अन्य द्वार (सम्प्रदाय) के लोग तो तुझे जानते पहचानते तक नहीं।

(ऐसी कपट पूर्ण बातें करने वाले) ये कच्चे धर्मी-गणों के छल-छन्द हैं, इन्हें सुनो! ये धर्मियों के धर्म का मर्म (रहस्य) नहीं जानते (और ऐसी बनावटी बातें करते हैं।)

(७)

अब क्षण-क्षण में रंग बदलने अर्थात् कभी प्रेमी कभी नेमी कभी क्रोध मूर्ति बन जाने के पाखण्ड का वर्णन करते हुए कच्चे धर्मियों के ओछे हृदयों का परिचय देते हैं–

मूल–

और तरंग सुनौ अति मीठी,
सखीन के नाम परस्पर बोलत।
तच्छिन केस गहंत मुष्टि हनि,
साकत सुद्ध बचावत डोलत।।

तच्छिन बोलैं तू प्रेत तू राक्षस,
फेरि परस्पर जाति प्रमानत।
काचे धरंमिनि के सुनौं छंद,
धरंमी-धरंम मरंम न जानत।।

भावार्थ–

(श्रीसेवकजी कहते हैं–इन कच्चे धर्मियाँ की) एक अत्यन्त मीठी (परिहास पूर्ण) तरंग और भी सुनो, वे लोग पहले तो आपस में एक दूसरे को सखियों के नाम ले लेकर बुलाते हैं; (कहते हैं-अजी चम्पक लता जी! अजी प्रेम लता जी! इत्यादि) किन्तु फिर दूसरे ही क्षण (लड़-झगड़ कर) एक-दूसरे के केशों को पकड़ खींच-खींच कर घूँसे मारते हैं, (सारा प्रेम-भाव और सखी भाव भुलाकर मार-पीट करने लगते हैं।) इस प्रकार ये (हित धर्मी तो) लड़ते हैं और उनको बचाते फिरते हैं शुद्ध शाक्त-गण, (क्योंकि वही तो इनके सच्चे हितैषी थे) लड़ते-लड़ते क्रोध में आकर उस क्षण एक दूसरे को "तू प्रेत" "तू राक्षस!!" ऐसा कहकर परस्पर में एक दूसरे की जाति प्रमाणित करने लगते हैं? (अर्थात् जाति की नीचता साबित करने लगते हैं।)

ये सब कच्चे धर्मियों के छल-छन्द हैं, इन्हें सुनकर इनका त्याग करो, ये लोग सच्चे धर्मी के धर्म-रहस्य भेद को बिलकुल भी नहीं जानते।

टिप्पणी– "साकत-सुद्ध बचावत डोलत"

कच्चे धर्मी एक ओर तो धर्मियों से इतना प्रेम दिखाते हैं कि परस्पर में सखियों के से नाम ले लेकर पुकारते हैं किन्तु बिगाड़ हो जाने पर 'प्रेत' और 'राक्षस' कह कहकर जाति की हीनता भी प्रमाणित करने लग जाते हैं। स्थिति अधिक बिगड़ जाने पर केश पकड़ कर मार-पीट तक की नौबत आ जाती है।

आश्चर्य तो यह है कि आपस में लड़ते हैं हित (प्रेम)-धर्मी; जिन्हें कभी लड़ना ही न चाहिये और उनका बचाव, निपटारा करते हैं, शुद्ध-शाक्त वाम-मार्गीय। अर्थात् "वाम मार्गीय शाक्त हित धर्मियों के सहपक्षीय बनते हैं, क्योंकि ये कच्चे धर्मी भी तो उनसे सच्ची प्रीति रखते हैं। ये वही शाक्त हैं जो इनके हित धर्म के सर्वथा प्रतिकूल हैं ये इनके सह पक्षीय हैं, और विपक्षी हैं अपने हित धर्मी आश्चर्य!

(८)

लड़ाई झगड़े के पश्चात् क्रोध में भरकर वे क्या कहते हैं? उनके आन्तरिक विचार क्या हैं? अब सेवक जी उनका प्रकाश करते हैं-

मूल-

जान्यौ धरंम देखी रसरीति जु,
निष्ठुर बोलत बदन प्रकासित।
ऐसे न वैसे रहे मँझरैंडव,
पाछिलियौ जु करी निरभासित।।
ह्वै हैं फेरि जैसे के तैसे हम,
बारे ते आये संन्यासिनि मानत।
काचे धरंमिनि के सुनौ छंद,
धरंमी-धरंम मरंम न जानत।।

भावार्थ-

(जो पहले शैव संन्यासी थे किन्तु खाने पीने के लोभ से पीछे हित-धर्मी वैष्णव बन बैठे) वे कच्चे धर्मी (क्रोध के आवेश में अपने अनन्य धर्म की उपेक्षा करते हुए) निष्ठुरता पूर्वक अपने मुख से ऐसा बकने लगते हैं कि-"हमने तुम्हारे (अनन्य) धर्म को जान लिया और रस रीति को खूब देख लिया।" इस प्रकार वे न तो इधर (वैष्णव हित

धर्मी जनों) के रहे और न उधर (संन्यासी शैवो) के ही, बेचारे बीच में ही लटक गये। अन्त में उन्होंने यह प्रकट किया कि अब हम तो फिर जैसे के तैसे हो जायँगे, क्योंकि हम तो बचपन से ही संन्यासी-शैवों को मानते आये हैं; (उनमें ही हमारी प्रीति और निष्ठा है, अतः संन्यासी हो जायँगे। वैष्णवता त्याग देंगे।)

(श्रीसेवकजी कहते हैं)—सुन लो। यही सब कच्चे धर्मी पाखण्डी धर्म ध्वजी लोगों के छल-छन्द हैं। ये सच्चे हित धर्मियों के धर्म का रहस्य क्या जानें? क्योंकि ये तो पेटू स्वार्थी हैं।)

टिप्पणी— ऐसे न वैसे रहे मँझरैंडव

मझरैड देहाती और प्रान्तीय शब्द है जिसका अर्थ है मध्य की स्थिति, बीच बिचैयाँ।

कच्चा धर्मी इसी स्थिति को प्राप्त करता है। झगड़ा करके हित धर्मियों से पराया हो जाता है और उनकी निन्दा करने लगता है। हम पहले की तरह संन्यासी हो जायँगे, ऐसा निर्णय तो सुना देता है किन्तु उसकी सच्ची निष्ठा संन्यास-धर्म में भी नहीं है। नहीं तो पहले उसका त्याग ही क्यों करता? इसलिये वह उसका भी पालन नहीं कर सकेगा। इन लक्षणों को देखकर सेवकजी उसे 'मझरैंडब' की दशा वाला व्यक्ति बताते हैं जिसको—

न खुदा ही मिला न बिसाले सनम।
न इधर के रहे न उधर के हुए॥

पूर्व में कथित कुम्हार के कूकर की उपमा भी इन सज्जन को भी बड़ी भली शोभा देगी।

मूल–

(९)

एक रिसाने से रूखे से दीखत,
पूछत रीति भभूकत धावत।
एक रँगमगे बोलत चालत,
मामिलैंहु बपुरे जु जनावत।।
एक बदंन कै साँची साँची कहैं,
चित्त सचाई की एकौ न आनत।
काचे धरंमिनि के सुनौ छंद,
धरंमी-धरंम मरंम न जानत।।

भावार्थ–

कोई तो क्रोध से भरे हुए से और रूखे नीरस से दीखते हैं पर अनन्य रसिक धर्मी अवश्य कहलाते हैं। यदि उनसे रीति (कायदे) से भी कोई बात पूछो, तो आग सी उगलते हुए दौड़ते हैं, (मानो खा जायँगे।) कुछ एक बड़ी रङ्गमगी (रसीली) बातें करते हैं और साधारण स्थिति में भी दीनता का प्रदर्शन करते हैं, (पर वास्तव में उनके हृदय में न तो रसिकता रहती और न दीनता ही। वे तो केवल शब्दाडम्बर मात्र करते हैं।) कुछ एक लोग मुख से तो 'सत्य सत्य' (अर्थात् हम सत्य ही कहते हैं, झूठ सम्भाषण नहीं करते) कहते हैं पर उनके चित्त में सच्चाई की एक भी बात नहीं आती और न रहती।

(श्रीसेवकजी कहते हैं) ये सब कच्चे धर्मियों के छल फरेब हैं इन्हें सुनो। ये लोग धर्मियों के धर्म का मर्म तो जानते नहीं छल का मर्म अवश्य जानते हैं।

मूल–

(१०)

एक धरंम समुज्झे बिनाऽव,
गुसाईं के ह्वै जु जगत्त पुजावत।

मूल न मंत्र टटोरा की रीति,
धरंमिनि पूछत बदन दुरावत॥
एक मुलंमा[१] सौ देत उघारि,
जु बल्लभ सौं बल्लभ परमानत।
काचे धरंमिनि के सुनौ छंद,
धरंमी-धरंम मरंम न जानत॥

भावार्थ–

कोई एक कच्चे धर्मी, धर्म का स्वरूप समझे बिना ही केवल (श्रीहरिवंश) गोस्वामी के कहला कर जगत में अपने आपको पुजाते फिरते हैं। इनके पास न तो धर्म का मूल (अर्थात् धर्म विषयक ज्ञान, धारणा, प्रीति आदि) ही है और न मन्त्र (रहस्य) ही। केवल टटोरे (अर्थात् अन्धे की भाँति टटोल कर किसी वस्तु का अनुमान करने) की रीति से ये लोग अपना काम चलाते हैं। सच्चे धर्मियों के समक्ष मुँह छिपाने लगते हैं, जब इनसे धर्म-विषयक बातें पूछी जाती हैं; (क्योंकि धर्म से सर्वथा कोरे हैं।) यदि कोई कच्चे धर्मी धर्म का स्वरूप

---

१. मुलम्मा– ताँबे पर स्वर्ण का पानी चढ़ाने का नाम मुलम्मा है, जिससे ताँबे की लगरी स्वर्ण सी दिखती है। यदि उसका मुलम्मा खुल जाय तो ताँबे का भेद प्रकट हो जाता है। यहाँ मुलम्मा खोलने का आशय यह है कि ये कच्चे धर्मी अपने स्वरूप ताँबे जैसी साधारण धातु को धर्मी-पने के स्वर्ण-पानी (आब) मुलम्मा से ऊँचा बताया करते हैं किन्तु जब धर्म के स्वरूप का यथार्थ मर्म न बता पाकर 'वल्लभ' श्रीराधा के प्रियतम इस अर्थ को बता देते हैं और अपने को श्री कृष्ण उपासक बताते हैं तब मानो इनका धर्मीपने का मुलम्मा खुल जाता है। वास्तव में राधावल्लभ शब्द का अर्थ यह है कि राधा ही वल्लभ अर्थात् प्रियतम हैं जहाँ (जिस उपासना में) कहा है– **''राधा चरन प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।''**

बताने ही लगे तो मुलम्मा सा उधार देते हैं और वल्लभ शब्द से वल्लभ (प्रियतम अर्थात् राधावल्लभ शब्द का अर्थ राधा के वल्लभ श्रीकृष्ण) को प्रमाणित करने लगते हैं। सुनो, ये कच्चे धर्मियों के छल-छन्द हैं, ये लोग धर्मी गणों के धर्म का मर्म नहीं जानते।

(११)

अब कुछ कच्चे धर्मी अभिमानियों का स्वरूप प्रकट करते हैं—

मूल—

एक गुरून सौं वाद करंत,
जु पंडित मानी ह्वै जीभहि ऐंठत।
एक दरब्य के जोर बरब्बट,
आसन चाँपि सभा मधि बैठत॥
एक जु फेरि रीति उपदेसत,
एक बड़े ह्वै न बात प्रमानत।
काचे धरंमिनि के सुनौं छंद,
धरंमी-धरंम मरंम न जानत॥

भावार्थ—

कोई एक (कच्चे धर्मी) गुरु-जनों से ही वाद-विवाद करते हैं। बड़े मानी पण्डित कहाकर जीभ ऐंठते— पाण्डित्य प्रकाशित करते हैं। कोई एक केवल द्रव्य के जोर से गुरु-जनों की बराबरी करते हुए सभा समाज में उनके आसन को दबाकर—समानता का अपना भाव प्रकट करते हुए बैठते हैं। फिर कोई एक उन्हीं गुरुजी को वहीं रस-रीति का उपदेश करने लग जाते हैं। कोई एक बड़े बनकर अभिमान-वश दूसरों की बातों को (सत्य होने पर भी) प्रमाण ही नहीं मानते, (अपनी ही अपनी धौंकते चले जाते हैं।) ये हैं नकली धर्मी लोगों के छल छन्द। सुनो, ये धर्मी, धर्म का मर्म नहीं जानते।

टिप्पणी— ''एक गुरुन सौं वाद करंत''

शिष्य का धर्म है कि वह श्रीगुरुदेव के सामने नम्र, विनयी, आज्ञावर्त्ती, सेवा-परायण, लघु, दीन, दास, अज्ञ और धर्मवेत्ता होकर भी जिज्ञासु बना रहे। उनके उपदेशों को श्रद्धा पूर्वक श्रवण करे, उनके सामने किसी को भी उपदेश न करे, उनसे ही वाद-विवाद करना और पाण्डित्य प्रकाशन करना तो दूर बात है। जो अज्ञानी एवं अहंकारी शिष्य श्रीगुरुदेव से शास्त्रार्थ एवं वाद-विवाद आदि करता है, वह विज्ञों की सभा में अनादरणीय है। उसे कभी किसी काल में मोक्ष, भक्ति किंवा प्रेम तो मिल ही नहीं सकता।

जो द्रव्य के जोर से अपने को श्रेष्ठ समझ बैठा है, वह तो स्थूल वादी जड़ है।

राधावल्लभीय हित धर्मी का यह स्वरूप नहीं है, जो ऊपर कहा गया। इस धर्म के साधक का कर्त्तव्य है कि वह गुरु-अवज्ञा रूप वाद-विवाद न करके केवल उनसे उपदेश ले, सदा अपने आपको उनसे लघु समझे।

मूल— (१२)

एक धरंमी अनन्य कहाइ,
बड़ाई कौं न्यारी कै बाजी सी माँड़त।
और के बाप सौं बाप कहंत,
दरब्य के काज धरंमहिं छाँड़त।।
बोलत बोल बटाऊ से लागत,
ह्वै गुरुमानी न बात प्रमानत।
काचे धरंमिनि के सुनौ छंद,
धरंमी-धरंम मरंम न जानत।।

तो सजातीय (तुम्हारे सम उपासक अनन्य हित-धर्मी) बन जाते और खर्च क़रने के समय विजातीय (अन्य) बन जाते हैं (अर्थात् खीर में एक और महेरी में न्यारे हैं।)

टिप्पणी– भक्त का स्वभाव अमानी (सम्मान न चाहने वाला), सहन-शील, किसी से कुछ न चाहने वाला, किसी के द्वारा अपनी कीर्ति या प्रशंसा न सुन सकने वाला, परोपकारी, अपरिग्रही और उदार होना चाहिये किन्तु इस छन्द में उक्त गुणों से विरुद्ध धर्मों का केन्द्र बताया गया है, उस कच्चे धर्मी को।

(१४)

अभी तक तेरह छन्दों में कच्चे धर्मी के लक्षणों का वर्णन किया गया है, अब इस एक छन्द से लक्षणों के परिचय के साथ-साथ उसके लिये उचित कर्त्तव्यों का भी विधान किया जा रहा है–

मूल–

लै उपदेश कहाय अनन्य,
अन्हाइ अनर्पित जाइ गटक्कत।
आस करैं विषईनि के आगैं,
जु देखे मैं जोरत हाथ लटक्कत॥
केतिक आयु कितेक सौ जीवन,
काहे बिनासत काज हटक्कत।
श्रीहरिवंश धरंमिहिं छाँड़ि,
घर घर काहे फिरत्त भटक्कत॥१४॥

भावार्थ–

कुछ कच्चे धर्मी श्रीगुरु उपदेश लेकर और अनन्य धर्मी कहला कर भी, स्नान मात्र करके प्रभु अर्पित किये बिना ही वस्तुओं को भोगने

लगते हैं। इन लोगों को मैंने विषयी लोगों के सामने आशा पूर्वक हाथ जोड़ते और भीख के लिए हाथ लटकाते देखा है।

(ऐसे लोलुप और अधर्मी लोगों के लिये श्री सेवकजी महाराज उपदेश करते हैं-कि) अरे! कितनी तो तुम्हारी आयु है और कितना थोड़ा तो तुम्हारा यह जीवन है फिर क्यों (जबरदस्ती) हटकते-बरजते हुए भी अपने काम बिगाड़ रहे हो? (भाव यह कि सच्चे धर्मी बन कर अपना जीवन सफल क्यों नहीं कर लेते?) भाई! श्रीहरिवंश-धर्म को छोड़ कर क्यों घर-घर (यहाँ-वहाँ दूसरी-दूसरी उपासनाओं में) भटकते फिरते हो?

टिप्पणी— "आस करैं विषईनि के आगैं जु
देखे मैं जोरत हाथ लटक्कत।"

जो उपासक अनन्य भक्त कहलाता है, जिसने इस विश्व की समस्त नाशवान् वस्तुओं का त्याग कर दिया और फिर लोभ-वश दूसरों के सामने गिड़गिड़ा कर उन्हीं तुच्छ वस्तुओं की याचना करता है वह अवश्य लोक में निन्दा को प्राप्त करता है। जिन्हें लोक-सम्पत्ति के त्याग-पूर्वक भगवान् की आशा पर ही जीवन धारण करना चाहिये, यदि वही त्यागी, विरागी एवँ अनन्य प्रेमी कहा जाने वाला धर्मी-सज्जन विषयी पुरुषों के सामने दीनता-पूर्वक हाथ फैलाने और गिड़गिड़ाने लगे, तो कहना न होगा कि वे अपने अनन्य प्रेम-मार्ग से गिर गया। ऐसे ही धर्म-च्युत धर्मियों का परिचय रसिकवर व्यास जी ने अपने इस पद में दिया है—

भक्त ठाढ़े भूपनि के द्वार।
उझकत झुकत पौरियन डरपत, गाइ बजाइ सुनावत तार।।

कहि यौं धाइ थवाइत प्रोहित, हमहिं गुदरबी स्वार।
छिन छिन करत विदा की बिनती, उपजत कोटि विकार॥
विहँसत लसत कोटि वर अंतर, कलियुग के अनुसार।
होत अनादर विषयिनु कें जब, तबहीं होत कुतार॥
चंदन माला स्याम-बिंदनी, दै उलटे उपहार।
'व्यास' आस लगि नट वानर ज्यौं, नाचत वेस उतार॥

इस पद में लोभियों के चित्त और कर्त्तव्य की बड़ी ही सुन्दर झाँकी है। इसी तरह और भी–

गुरु गोबिन्दहिं बैंचत हाट।
भक्त न भयो माँगनौं जैसैं, डोम कलावँत भाट॥
कायर कूर कुटिल अपराधी, कबहुँ न होइ निराट।
लोभ गोभ लगि सबै विगर्‌यौ, ज्यौं रैंनी को माट॥
– –
'व्यास' आस करि हरिहिं जु सेवै, ताकैं परियौ वाट॥

सारांश यह कि लोभ आदि दुर्वृत्तियों का त्याग करके श्रीराधावल्लभलाल जी से प्रेम करना चाहिये अर्थात् सच्चे अनन्य रसिक हित धर्मी बनना चाहिये, यही एक मात्र सत्य धर्म है।

(१५)

हित धर्मी को चाहिये कि वह अपने धर्म को जानने समझने के लिय शाक्त आदि अन्य जनों का सङ्ग त्याग कर अपने धर्मियों का ही संग करे, क्योंकि इसी में उसका श्रेय है। यही उसके अभ्युदय का मार्ग है–

मूल– साकत संग अगिन्न लपट्ट,
लपट्ट जरत्त क्यौं संगति कीजै।

साधु सुबुद्धि समान सु संतनि,
जानिकैं सीतल संगति कीजै॥
एक जु काचे प्रकृत्ति बिरुद्ध,
प्रकृत्ति बिरुद्ध करैं तौ का कीजै।
जे आगि के दाझे गये भजि पानी में,
पानी में आग लगै तौ का कीजै॥

भावार्थ–

(श्रीसेवक जी कहते हैं–) भाई! शाक्तों का सङ्ग अग्नि की तीखी लपट है। लपट का स्वाभाविक धर्म है कि वह सब कुछ जला देती है। तब तू क्यों उस अग्नि लपट रूप शाक्त का सङ्ग करता है? साधु जन सुन्दर बुद्धि से युक्त और सम-भाव पूर्ण सन्त हैं ऐसा जानकर उन सन्तों का ही शीतल (शान्तिदायक) संग कर। एक तो तू (अपने धर्म में ही) कच्चा है और वे (शाक्त गण) तेरे प्रकृति विरोधी (अर्थात् तेरी सात्विक उपासना के विपरीत तमोगुण प्रधान उपासना युक्त) है, फिर यदि वे तेरे लिये प्रकृति के विरुद्ध करते भी हैं, तो तू क्या कर सकेगा? (अर्थात् तू उनके उस विपरीत धर्म के प्रवाह में बह जायगा और दिनों दिन तेरा अपने धर्म से अन्तर पड़ता जायगा) अन्ततोगत्वा तेरा यह हाल होगा कि जैसे कोई आग का जला-भुना शीतलता के लिये पानी में जाय किन्तु उस पानी में ही आग लग जाय तो वह क्या करे? अर्थात् धर्म के कच्चे पन की आग के जले हुए शाक्त-सङ्ग रूप पानी में शान्ति के लिये गये पर वहाँ भी प्रकृति-विरोध की आग लग जाय तब तो कही शान्ति नहीं होगी। अतः शाक्त सङ्ग को छोड़कर सन्तों का शान्ति दायक सङ्ग करे।)

टिप्पणी– "पानी में आगि"–

अनन्यता सम्बन्धी अनेकों व्रत लिये थे, अब उन्हें स्मरण कर। और अपनी उन प्रतिज्ञाओं के अनुसार अपनी प्रतिज्ञा लेने की लाज को बचाने का उपाय कर। क्योंकि जो व्यक्ति भद्रजनों के बीच में किसी प्रकार का वचन देकर उसका पालन नहीं करता, वह लोक में बुरी दृष्टि से देखा जाकर असम्मानित होता है, फिर तूने तो श्रीगुरुदेव और इष्ट देव के समक्ष ये बातें कही है—उनके सामने अनन्य बना है तब तो तुझे अवश्य ही अपने उन वचनो के अनुसार कर्त्तव्य करना चाहिये अर्थात् अनन्यता को निभाना चाहिये।

(ii) "गोबिंद दुहाई भाई जौं न सेवहु स्यामा हरि"—

यहाँ पर श्रीसेवकजी कच्चे धर्मियों के प्रति अपने सह-धर्मी उपासक होने के नाते "भाई!" शब्द का प्यार-पूर्ण सम्बोधन करते हैं और आत्मीयता के अधिकार पूर्वक गोविन्द दुहाई (शपथ) के साथ श्रीश्यामा श्याम के सेवन-भजन का अत्यन्त आग्रह कर रहे हैं।

श्री सेवकजी के उक्त कथन में यह भी ध्वनि निकलती है कि भाइयों! तुम कच्चे धर्मियों के कारण कहीं-कहीं सच्चे धर्मी भी लज्जा को प्राप्त होते और संकुचित होते हैं, क्योंकि तुम्हारा आचरण ही ऐसा है, अतएव यदि तुम अपना आचरण अनन्य धर्मी जैसा सच्चा बना लोगे, तो सबका सिर ऊँचा रहेगा।

दूसरे यह कि यदि तुम शपथ दिलाने से ही सही सच्चाई के साथ अनन्य धर्म का पालन करने लगो, तो तुम्हारा कल्याण हो जाय।

(१८)

इस छन्द में स्वधर्म पालन का परिणाम (फल-स्तुति) बताते हुए मानो 'काचे धर्मियों' को सान्त्वना और विश्वास दिला रहे हैं कि सच्चाई के साथ स्वधर्म (श्रीहित रसोपासना का अनन्य पथ) पालन करने से क्या होता है—

संसार-प्रवाह अग्नि के समान है और सत्सङ्ग शीतल जल के समान। जो त्रय-ताप-सन्तप्त प्राणी अपनी आत्मिक शान्ति के लिये सत्सङ्ग करे और यदि कदाचित् उसे उस सत्सङ्ग से और अधिक दाह का अनुभव होने लगे, तो यही कहना होगा कि पानी में आग लग गयी।

यदि कोई वैष्णव साधक, तमोगुणी (शाक्तों का सङ्ग) करके शान्ति पाना चाहे तो उसका वह शाक्त, सङ्ग 'पानी में आग' की तरह है, क्योंकि वहाँ विषयों की भयानक लपटें हैं। उस शाक्त-सङ्ग में क्षमा, दया, सरलता, अहिंसा आदि सात्विक गुणों का अभाव है, जो आत्म-शान्ति के हेतु हैं।

तात्पर्य यह कि कभी और कहीं भी किसी को पाषण्ड धर्मों के आचरण और पाषण्डियों के सङ्ग से शान्ति नहीं मिल सकती, शान्ति तो मिलती है, सत्य धर्माचरण और सच्चे सन्तों के सङ्ग से, अतएव यही कर्त्तव्य है।

मूल— (१६)

प्रीति भंग बरनत रस रीतिहि,
श्रीहरिवंश बचन बिसरावहु।
आप आपनी ठौर जहाँ तहाँ,
करि विरुद्ध सब पै निदराबहु।।
एक संसार दुष्ट की संगति,
ताहू पै तुम पुष्ट करावहु।
विनती करहुँ सकल धर्मिनि सौं,
धर्मी ह्वै जिन नाम धरावहु।।

भावार्थ—

(श्रीसेवकजी कहते हैं—) हे कच्चे धर्मी भाइयों ! वास्तव में तुम प्रीति से रहित (प्रीति भङ्ग) होने पर भी रस रीति का वर्णन करते हो और श्रीहरिवंशचन्द्र के वचनों को भुला रहे हो (जो उन्होंने कहा है—**"साधु सँगति करि अनुदिन राती"** और **"स्याम-स्यामा-पद-कमल संगी सिर नायौ।"** साधु सङ्ग से प्रीति प्राप्त करके फिर प्रीति—रस—रीति का वर्णन शोभा देता है, केवल वाचिक नहीं। उपदेशक उपदेश देने मात्र से महान् नहीं कहा जा सकता न रसिक ही। भाई तुम अपनी—अपनी जगह पर (स्थिति में) ही रहते हो किन्तु (श्रीहरिवंश वचन के विरुद्ध—आचरण; शाक्त—सङ्ग, मनमुखी पन आदि) कर कर के जगत में अपनी निन्दा अवश्य करा लेते हो। एक तो यह संसार ही दुष्ट—सङ्ग है, उस पर भी तुम उसी संसार की पुष्टि करा रहे हो! (अर्थात् शाक्तादि लोगों के सङ्ग से आवागमन ही तो बढ़ेगा?) अतएव मैं समस्त धर्मियों से विनय करता हूँ कि तुम धर्मी (हित रस के अनन्य रसिक) कहलाकर अब ऐसा (बुरा) नाम मत पैदा करो! (कि ये कच्चे धर्मी किंवा शाक्त—सङ्गी हैं।)

(१७)

कच्चे रसिकों का क्या कर्त्तव्य है? इसका विधान करते हैं—

मूल—

स्वारथ सकल तजि गुरु चरननि भजि,
गुन नाम सुनि कथि संतन सौं संग करि।
काल-व्याल मुख पर्‌यौ कफ बात पित्त भर्‌यौ,
भ्रम्यौ कत अनन्य कहायै की जिय लाजधरि॥

सेवक निकट रस रीति प्रीति मन धरि,
हित हरिवंश कुल कानि सब परिहरि।
काचे रसिकनि सौं बिनती करत ऐसी,
गोबिंद दुहाई भाई जो न सेवहु स्यामा हरि॥

भावार्थ–

हे भाई! तू अपने सारे स्वार्थों का त्याग कर, श्रीगुरु-चरणों का भजन कर, अपने इष्ट देव श्रीराधावल्लभलाल के गुण एवं नामों का श्रवण-कथन कर और प्रेमी सन्तों का सत्सङ्ग कर। (विचार करके देख!) तू काल रूपी सर्प के मुख में पड़ा है और तेरा नाशवान् शरीर कफ, वात एवं पित्त से भरा हुआ है। फिर तू किसलिये भ्रम में हो ? अरे, अपने अनन्य कहे जाने की लाज तो (कम से काम) अपने चित्त में धारण कर।

श्रीसेवकजी कहते हैं–कि श्रीहरिवंश के सेवकों के निकट (निवास करके या उनकी समीपता प्राप्त करके) रस-रीति एवं प्रीति को अपने मन में धारण कर और श्रीहरिवंश के लिये (उनकी प्राप्ति, प्रीति के लिये) अपने कुल की मर्यादा, प्रतिष्ठा आदि सब (बन्धनों) का परित्याग कर दे। मैं कच्चे रसिकों से विनती करता हूँ कि हे भाइयो! यदि तुम श्रीश्यामा-श्याम सेवन नहीं करते हो तो तुम्हें मेरी ओर से श्रीगेविन्द की दुहाई है जो ऐसा न करो। अर्थात् शपथ है, अतः श्रीश्यामा-श्याम का सेवन अवश्य करो।

टिप्पणी–

(i) अनन्य कहायै की जिय लाज धरि–

जिस समय तूने श्रीगुरु-चरणों में बैठकर श्रीहरिवंश-धर्म के अनन्यता पूर्वक पालन की प्रतिज्ञा की थी और रसिकों के बीच में

भावार्थ–

कुछ एक नकली धर्मी, अनन्य रसिक धर्मी कहला कर केवल बड़ाई के लिये अपने आप की (उपासना आदि) रीति सबसे न्यारी करके अनन्यता की होड़ सी लगा देते हैं (कि हम श्रीराधावल्लभ लाल के मानने वाले अनन्य दृढ़ रसिक हैं) किन्तु वही द्रव्य के लिये धर्म (अनन्यता आदि) का परित्याग कर देते और अधिक क्या कहें दूसरे के बाप को अपना बाप कहने में भी नहीं चूकते। (तब अनन्यता कहाँ रहती है?) वे जब बोलते हैं, तो उनके बोल बटाऊ (बटा, पत्थर) के जैसे कड़े और चोट करने वाले होते हैं। वे मानी (अभिमानी) गुरु बन कर दूसरों की बातों को प्रमाण ही नहीं मानते। सुनो। ये कच्चे धर्मियों के छल-छन्द हैं। ये लोग, हित धर्मी एवं हित-धर्म के मर्म को नहीं जानते, (पर अनन्य धर्मीपने का नाट्य अवश्य करते हैं।

मूल– (१३)

परखे सुनहु सुजान और कछु जहाँ कचाई।
भक्त कहैं परसन्न न तरुता कहैं बुरबाई॥
दियैं सराहैं सुख रहैं दुख में दिन राती।
खैबैं कौं जु सजाति खरच कौं होत बिजाती॥

भावार्थ–

(श्रीसेवकजी कहते हैं-) हे सज्जनो! सुनो, उनमें और जो कुछ एवं जहाँ कहीं कच्चापन है, उसका भी वर्णन करता हूँ, मैंने जिसे परख लिया है। ये कच्चे लोग 'भक्त' कहने पर प्रसन्न तो होते हैं किन्तु उनकी बुराई (निन्दा) कही जाने पर उनमें तरुता (वृक्ष जैसी सहन-शीलता) नहीं रहती। वे कुछ देने पर और सराहना किये जाने पर सुखी होते अन्यथा सब समय दिन रात दुःखी ही रहते हैं। आश्चर्य है कि ये खाने के लिये

मूल–

प्रगटित श्री हरिवंश सूर दुंदुभि बजाइ बल।
मदन मोह मद मलित निदरि निर्दलित दंभ दल॥
भरम भाग्य भय भीत गर्व दुर्जन रज खंडन।
लोभ क्रोध कलि कपट प्रबल पाखंड विहंडन॥
तृष्णा-प्रपंच-मत्सर-बिसन सर्व दंड निर्बल करे।
सुभ-असुभ दुर्ग बिध्वंसि बल तब जैति-जैति जग उच्चरे॥१८॥

भावार्थ–

श्रीश्यामा-श्याम का सेवन करने या श्रीहरिवंश धर्म का अनन्य भाव से पालन करने से उस साधक के हृदय में श्रीहरिवंश चन्द्र शूर-वीर दुन्दुभि बजाकर (डंके की चोट से) बल-पूर्वक प्रकट हो जाते हैं और काम, मोह, अभिमान, दम्भ, पाषण्ड आदि के दल को निरादरित करके मसल डालते हैं। (उस उपासक के) भ्रम, भाग्य (कर्म-संस्कार, परिणाम), भय, भीति (भय से उत्पन्न भाव) गर्व आदि दुर्जनों के अभिमान (रजोगुण-धर्म) का खण्डन करके लोभ, क्रोध, कलह कपट आदि प्रबल पाषण्ड समूह को तहस नहस कर डालते हैं। इसी प्रकार तृष्णा प्रपञ्च, मत्सर (डाह) आदि सारे दोषों (व्यसनों) को भी अपने दण्ड बल से निर्बल कर देते हैं, पश्चात् पुण्य और पाप रूपी किलों को भी नष्ट-भ्रष्ट कर डालते हैं। तब सम्पूर्ण जगत् जय-जयकार का उच्चारण कर उठता है।

टिप्पणी–

इस छन्द में एक सुन्दर रूपक की शैली से यह बताया गया है कि श्रीहरिवंश धर्म का पालन करने वाला साधक केवल एक श्रीहरिवंश का आश्रय ले लेने से किस प्रकार सारे दोषों से विजय पा

जाता है और विश्व-विख्यात महापुरुष बन जाता है।

इस वर्णन में श्रीहरिवंश एक शूरवीर हैं। साधक धर्मी का चित्त ही पाप-पुण्य के संस्कारों का केन्द्र एक दुर्ग (किला) है। उस किले में निवास करने वाले रजोगुणी, तमोगुणी सुभट हैं-काम, मोह, मद, दम्भ, भ्रम, कर्म-प्रवाह, भय, अभिमान, लोभ, क्रोध, कलह, कपट, पाषण्ड, तृष्णा, प्रपञ्च, मत्सर, व्यसन, आदि दुर्ज्जन। इन्होंने उस चित्त रूपी किले पर पूर्व काल से अपना एकाधिकार जमा रखा है और चित्त के वास्तविक स्वामी (आत्मा) को अपना वशवर्त्ती बना रखा है और मन माना नाच नचा रहे हैं।

जब श्रीहरिवंश शूर अपने धर्म की दुंदुभि बजा कर साधक के चित्त में भजन रूप बल का प्रकाश करते हैं, तब सब दुर्ज्जन उनसे हार खा जाते हैं और साधक विजयी हो जाता है। विश्व में उनकी विजय-पताका फहरा जाती और सारा संसार उनकी जय-जयकार कर उठता है। अर्थात् जब साधक अपने चित्त में श्रीहरिवंश के धर्म, नाम गुण आदि का बल धारण करता है, तो वहाँ से काम क्रोध आदि दुष्ट जन शीघ्र भाग जाते हैं और वह श्रीहरिवंश धर्म की कृपा से अपनी इष्ट-वस्तु नित्य-विहार रस को पा लेता तथा कृत-कृत्य हो जाता है।

॥ जै जै श्रीहरिवंश ॥

श्रीहित अलभ्य-लाभ

(पंचदश प्रकरण)

पूर्व परिचय-

अलभ्य उस वस्तु को कहते हैं जो कभी किसी को प्राप्त न हुई हो। ऐसी अलभ्य वस्तु है- श्रीहरिवंश नाम। यह पहले किन्हीं साधनों से भी किसी को प्राप्त नहीं था, श्रीहरिवंशचन्द्र ने कृपा पूर्वक जगतीतल पर प्रकट होकर अपने रूप का प्रकाश किया, जिससे कृपा पात्र जनों ने उन्हें जाना और उनके नाम के द्वारा उस अलभ्य वस्तु का लाभ किया, जो अभी तक किसी को प्राप्त न थी; इसलिये इस प्रकरण में उस अलभ्य लाभ का वर्णन होने से इसका नाम 'अलभ्य-लाभ' रखा गया है।

इस अलभ्य लाभ के दृष्टि-गोचर होते हुए भी जो लोग इसका लाभ नहीं लेते मानो वे महा अभागे हैं।

अस्तु यहाँ चार छन्दों में उस "अलभ्य लाभ" श्रीहरिवंश-नाम की महिमा, प्रभाव, गुण-माहात्म्य, नाम को ग्रहण न करने वाले का स्वरूप एवं दशा आदि का संक्षेपत: वर्णन किया गया है।

मूल- (१)

श्री हरिवंश नाम है जहाँ तहाँ तहाँ उदारता,
सकामता तहाँ नहीं कृपालुता विशेषिये।
हरिवंश नाम लीन जे अजातसत्रु ते सदा,
प्रपंच दंभ आदि दै तहाँ कछू न पेखिये॥
हरिवंश नाम जे कहैं अनंत सुक्ख ते लहैं,
दुराप प्रेम की दसा तहाँ प्रतच्छ देखिये।

सोई अनन्य साधु सो जगत्र पूजिये सदा,
सु धन्य धन्य विश्व में जनंम सत्य लेखिये॥१॥

भावार्थ-

जहाँ-जहाँ श्रीहरिवंश नाम है, वहाँ-वहाँ उदारता है। वहाँ सकामता (फल की इच्छा) नहीं है और कृपालुता तो विशेष रूप से है, ऐसा जानना चाहिये। जो उपासक श्रीहरिवंश-नाम में तल्लीन हैं, वे सदा ही अजात शत्रु (अर्थात् जिनका शत्रु पृथ्वी क्या त्रिलोकी में उत्पन्न ही नहीं हुआ ऐसे) हैं। उनके पास प्रपञ्च दम्भ से लेकर और भी बहुत से दोष पाखण्ड आदि कुछ भी नहीं देखे जाते। जो लोग 'श्रीहरिवंश' नाम कहते रहते हैं, वे अनन्त सुख को प्राप्त करते हैं और अत्यन्त गोपनीय प्रेम की दशा भी उनमें प्रत्यक्ष देखी जाती है (अर्थात् श्रीहरिवंश नाम के प्रताप से वह अलभ्य प्रेम दशा भी प्रकट हो जाती है) जो ऐसा (उक्त गुणों से सम्पन्न) है वही अनन्य साधु है, वही सदा-सर्वदा त्रिलोक पूज्य है। वही धन्य-धन्य है और विश्व में जन्म लेना उसी का सचमुच साथक है।

टिप्पणी- **"सकामता तहाँ नहीं"-**

फल की इच्छा का नाम सकामता है। जब साधक उपासक श्रीभगवान् से किंवा अन्य देवी-देवताओं से उनकी उपासना करके किसी प्रकार के फल की इच्छा रखता है तब वह सकामी और उसकी उपासना सकाम कही जाती है।

महाप्रभु श्रीहित हरिवंश चन्द्र का मार्ग प्रेम-मार्ग है और इस प्रेम-मार्ग में प्रभु-चरणों के प्रेम के सिवाय और कुछ चाह या कामना हो ही नहीं सकती। यहाँ तक कि (भोगों की तो बात क्या? मोक्ष की

भी वासना भी इस प्रेम-मार्ग में अन्तराय मानी गयी है। श्रीरूप गोस्वामी ने कहा है-

भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।

अर्थात् "जब तक साधक के हृदय में भोग और मोक्ष की वासना रूपी पिशाचियाँ निवास करती हैं तब तक उसके हृदय में प्रीति के सुख का उदय कैसे हो सकता है?"

अतएव स्पष्ट है कि मुक्ति की स्पृहा भी लौकिक रीति की कामना न कही जाने पर भी प्रेम मार्ग में बाधक है-वास्तव में तो प्रकारान्तर से यह भी एक कामना या वासना ही है।

श्रीसेवकजी कहते हैं कि जहाँ कहीं श्रीहरिवंश धर्म है वहाँ उदारता है और सकामता तो क्या मोक्ष-वासना तक नहीं है। इसका आशय यह भी है कि श्रीहरिवंश-धर्म शुद्ध प्रेम धर्म होने से त्यागमय और तत्सुख भावों से पूर्ण है। इस तत्सुख पूर्ण प्रेम में निज सुख की गन्ध भी नहीं है और जब निज सुख नहीं है, तब किसी प्रकार की कामना या वासना हो भी कैसे सकती है? इस प्रेम-मार्ग में तो प्रियतम पर अपने तन, मन, प्राणों का उत्सर्ग करना ही है। इस सब का फल (प्रेम उपासना करके) प्रेम ही पाना है। अतएव यहाँ सकामता नहीं है।

(ii) "अजात सत्रु ते सदा"-

जो लोग श्रीहरिवंश-धर्म (परम प्रेम) में लीन हो जाते हैं, उनका किसी से वैर न होना या न रहना स्वाभाविक है। उनका सर्वत्र इष्ट-भाव या आत्म भाव हो जाता है, इसलिये अजात-शत्रु पद इनके लिये सहज है। इन हित-रसिकों का सिद्धान्त है-

अब हौं कासौं बैर करौं।
निज मुख कहत पुकारत प्रभु है घट घट हौं विहरौं।।

और-

उमा जे राम-चरन रत विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध॥

श्रीहिताचार्य पाद कहते हैं–

सर्वान्वस्तुतया निरीक्ष्य परम स्वाराध्य बुद्धिर्मम।

–श्रीराधा सुधानिधि

अर्थात् "सब को वस्तु (यथार्थ) दृष्टि से देख कर मेरी इस सब नानात्व के प्रति स्वाराध्य बुद्धि है।"

कहने का आशय यह कि जिनकी सर्वत्र आराध्य बुद्धि हो भला उनके लिये कोई क्यों शत्रु बनेगा? अत: ये उपासक 'अजात-शत्रु' कहे जाते हैं।

(iii) "दुरापि प्रेम की दशा तहाँ प्रतच्छ देखिये"–

जिन्होंने प्रेम-मूल श्रीहरिवंश नाम का ही आश्रय ले रखा है, उनके लिये प्रेम की गोप्य दश या अन्य जनों के लिये अप्राप्य दशा का प्राप्त हो जाना न तो असम्भव है, न आश्चर्य ही।

दुरापि प्रेम के दो अर्थ हो सकते हैं–(१) परम गोपनीय और (२) अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होने वाला। इन दोनों अर्थों से जिस प्रेम-तत्त्व का लक्ष्य स्थिर किया जाता है वह है युगल किशोर का पारस्परिक अद्वितीय प्रेम; जिसकी तुलना में विश्व-प्रेम, वात्सल्य-प्रेम, गोपी-प्रेम आदि भी नहीं आ पाते। बस, यही प्रेम तत्व 'दुरापि' एवं अद्वितीय है। जिसके लिये श्रीहित ध्रुवदास जी ने डंके की चोट पर कहा–

तीन लोक चौदह भुवन प्रेम कहूँ 'ध्रुव' नाहिं।
जगमग रह्यौ जराव सो श्रीवृंदावन माँहिं॥

जिस प्रेम को तीनों लोक और चौदह भुवन भी नहीं पा सके, उस अलक्षित प्रेम के भोगी हैं युगल किशोर श्रीराधावल्लभलाल। जिनके उत्कट एवं दुरापि प्रेम की सर्वोच्च स्थिति का निरूपण करते हुए श्रीहित ध्रुवदास जी फिर भी कहते हैं–

एकै प्रेमी एक रस श्रीराधावल्लभ आहि।
भूलि कहे जो और ठाँ झूठौ जानौं ताहि॥

यह है दुरापि प्रेम। अब इसकी दशा का वर्णन श्रीसेवक जी अन्यत्र इसी वाणी में इस प्रकार करते हैं–

निरखत नित्य विहार पुलकित तन रोमावली।
आनँद नैन सुढ़ार यह जु कृपा हरिवंश की॥
छिन छिन रुदन करंत छिन गावत आनंद भर।
छिन जस कहत अभंग यह जु कृपा हरिवंश की॥
त्रिपित न मानत नैंन कुंज रंध्र अवलोकि तन।
यह सुख कहत बनै न यह जु कृपा हरिवंश की॥

इस प्रकार की दुरापि प्रेम की दशा इस श्रीहरिवंश नाम से प्राप्त होती है।

(२)

अलभ्य लाभ रूप श्रीहरिवंशचन्द्र के नाम से जिनका अनुराग है उनके संसर्ग से क्या लाभ होता है, इसका निरूपण करते हैं–

मूल–

श्रीव्यासनंदन नाम कौ अलभ्य लाभ जानियै।
हरिवंशचंद्र जो कही सुचित्त ह्वै सबै लही,
बचंन चारु माधुरी सु प्रेम सौं पिछानियै।
सुनै प्रपंन जे भये अभद्र सर्व के गये,
तिन्हें मिलैं प्रसंन ह्वै न जाति भेद मानियै॥

सुभाग लाग पाइ हौ प्रसंसि कंठ लाइ हौ,
सिराइ नैंन देखिकैं अभेद बुद्धि आनियै।
कृपालु ह्वै सु भाखि हैं धरंम पुष्ट राखि हैं,
श्रीव्यासनंदन नाम कौ अलभ्य लाभ जानियै॥२॥

भावार्थ–

निश्चय जानिये कि श्रीव्यासनन्दन नाम का लाभ ही वास्तव में अलभ्य लाभ है।

श्रीहरिवंश चन्द्र ने जो कुछ कहा है, उसे सभी (उनके शरणागतों) ने सुचित्त भाव से प्राप्त किया है। हृदय में प्रेम होने से ही उस वाणी का माधुर्य समझ में आता है (क्योंकि वह अन्य प्रकार पहचानी ही नहीं जा सकती।) उस (वचन माधुरी) को सनुकर जो लोग (श्रीहित हरिवंशचन्द्र के) शरणागत (भक्त) हो गये, उनके समस्त अभद्र (अमंगल, पाप) विदा हो गये। ऐसे उन भक्तों से प्रसन्नता–पूर्वक मिलना चाहिये, उनसे जाति आदि का भेद (अर्थात् जाति की उच्चता और हेयता) नहीं माननी चाहिये। ऐसे प्रेमी मानो हमारे सौभाग्य को उदय करने के ही लिये मिलते हैं–अथवा उनसे सौभाग्य और लाग (लगन) प्राप्त हो सकेगी, वे तुमसे प्रसंशा–पूर्वक मिलेंगे और तुम्हें गले लगा लेंगे। तुम उनका दर्शन करके अपने नेत्र शीतल करो और उनके प्रति अभेद बुद्धि (अर्थात् इष्टदेव श्रीराधावल्लभलाल और रसिक–महानुभाव दो तत्व नहीं अपितु एक ही वस्तु–तत्व के दो रूप हैं ऐसी बुद्धि) लाओ। वे भी तब कृपालु होकर तुम्हारे प्रति सुन्दर और मधुर वचनों का भाषण करेंगे, (सदुपदेश देंगे) और तुम्हारे धर्म को पुष्ट करके उसकी रक्षा करेंगे।

(यह समस्त गुण श्रीहरिवंश नाम के ही हैं अतः) श्रीव्यासनन्दन श्रीहरिवंशचन्द्र के नाम को ही अलभ्य लाभ जानिये। इसके समान कोई अन्य लाभ तो है ही नहीं।

टिप्पणी– "धरंम पुष्ट राखि है"–

अनन्य रसिक श्रीहित धर्मी ही अनन्य धर्म को पुष्ट कर सकेगा, क्योंकि स्वयं वह अपने धर्म का दृढ़ निष्ठावान है, वह अपनी सिद्ध निष्ठा के ही अनुसार दूसरों को धर्म का उपदेश करेगा, जिससे श्रीहरिवंश धर्म की पुष्टि होगी।

जिस किसी धर्मी को अपने धर्म की पुष्टि की इच्छा हो वह इन्हीं अनन्य धर्मियों का सङ्ग करे।

(३)

श्रीहरिवंश नाम की महिमा और श्रेष्ठता का ही पुनः पोषण करते हैं–

मूल–

हरिवंश नाम सर्व सार छाँड़ि लेत बहुत भार,
राज बिभौ देखिकैं विषै विषंम भोवहीं।
जोरु होत साधु संग आँन करत प्रीति भंग,
मान काज राजसीन के जु मुक्ख जोवहीं॥
जहाँ तहाँ अन्न खात सखी कहत आप गात,
सकल द्यौस द्वंद्व जात रात सर्व सोवहीं।
प्रसिद्ध व्यासनंदन नाम जानि बूझि छोड़हीं,
प्रमाद तें लिये बिना जनंम बाद खोवहीं॥३॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश नाम ही सबका सार है। कच्चे और अश्रद्धालु धर्मी लोग उसे छोड़ कर अन्य-अन्य (उपासना और धर्मों का) व्यर्थ भार अपने सिर पर लेते हैं और किसी का राज्य-वैभव आदि देख करके विषम विषय-रस में लिप्त हो जाते हैं। यदि कदाचित् सौभाग्य से

साधुजनों का सङ्ग प्राप्त हो भी गया तो उन साधुओं से भी और-और प्रकार की खटपट कर करके उनसे प्रीति तोड़ लेते हैं और सम्मान पाने के लिये राजसी लोगों का मुख देखते रहते हैं।

ये लोग अनन्य तो बनते हैं पर जहाँ-तहाँ अन्न (विना भोग लगी हुई वस्तु) खाते फिरते और अपने आपको (गुरु दीक्षा, कण्ठी, तिलक आदि होने से) सखी-स्वरूप कहते हैं। उनके सारे दिन द्वन्द्व (राग-द्वेष, इर्ष्या, असूया, झूठ-कपट आदि) में ही चले जाते हैं और वे सारी रात सोया करते हैं, केवल कहने के सखी-स्वरूप हैं, भजन-भाव, सेवा, जप, पाठ आदि कुछ नहीं अपितु खाना-पीना और सोना यही सारे विपरीत आचरण हैं। खेद है कि प्रसिद्ध व्यास नन्दन (श्रीहरिवंश) नाम को जान बूझ कर छोड़ देते हैं और प्रमाद-वश उस महान् नाम के बिना ही अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ खो देते हैं।

टिप्पणी–

(i) "हरिवशं नाम सर्व सार"–

श्रीहित राधावल्लभीय अनन्य धर्मी के लिये श्रीहरिवंश नाम ही सबका सार है। समस्त वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास आदि का सार तत्व भगवन्नाम है किन्तु नित्य-विहार श्रीवृन्दावन-विलास के एक मात्र दाता श्रीहरिवंश चन्द्र हैं, इसलिये हरिवंश-नाम ही सबका सार है श्रीहरि नहीं। इसीलिये सेवक जी ने कहा–

जौ हरि नाम-जगत्त सिरोमनि 'वंस' बिना कबहूँ नहिं लैहौं।

भाव यह कि हरि नाम से जो वस्तु मिलेगी उससे विलक्षण श्रीहरिवंश नाम से मिलेगी; अतएव श्री हरिवंश नाम श्रीहरि नाम से भी श्रेष्ठ एवं सार युक्त है।

(ii) "जहाँ तहाँ अन्न खात सखी कहत आपु गात"–

श्रीराधावल्लभीय अनन्य धर्म की दीक्षा लेने पर साधक का स्वरूप युगल किशोर की 'सखि' है। उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने इष्ट देव का दर्शन करे, चरणामृत ले, उच्छिष्ट प्रसाद पावे। जो लोग अनन्य हित धर्मी बनकर और अपने आपको श्रीप्रियाजी की दासी जान-मान कर अन्यत्र इधर-उधर अनर्पित खाते फिरते हैं उनका यह आचरण सर्वथा धर्म-प्रतिकूल है।

तात्पर्य्य यह कि सखी का स्वरूप तो यह है कि वह युगल किशोर श्रीप्रिया-प्रियतम की ही सेवा, भावना, स्मरण आदि में तल्लीन रहे और उनसे अत्यधिक प्रेम करे किन्तु जो ऐसा नहीं करते, वे श्रीहरिवंश नाम के सच्चे आश्रित न होने से ही इस दशा को प्राप्त हैं।

(४)

श्रीहरिवंश नाम के बिना सारा वेद-पाठ, यज्ञ, जप, तप, कीर्त्ति आदि व्यर्थ हैं तथा इन सबके करते हुए श्री हरिवंश-नाम विहीन रहने से भव-प्रवाह से छूटना कठिन है। निम्नलिखित छन्द में इसी भाव को स्पष्ट करते हैं–

मूल–

हरिवंश नाम हीन खीन दीन देखियै सदा,
कहा भयौ बहुज्ञ ह्वै पुरान वेद पढ्ढहीं।
कहा भयौ भये प्रबीन जानि मानियै जगत्र,
लोक रीझ सोभ कौं बनाइ बात गढ्ढहीं॥
कहा भयौ किये करंम जज्ञ दान देत-देत
फलनि पाइ उच्च-उच्च देवलोक चढ्ढहीं।
परयौ प्रवाह काल के कदापि छूटि है नहीं,
श्रीव्यासनंदन नाम जो प्रतीति सौं न रट्टहीं॥४॥

भावार्थ–

जो लोग श्रीहरिवंश नाम से हीन हैं–रहित हैं, वे सदैव दीन एवँ (धर्म से) क्षीण देखे जाते हैं। क्या हुआ जो वे लोग बड़े भरी सुज्ञाता होकर पुराण एवं वेद पढ़ते रहते हैं? यदि वे बड़े प्रवीण (कुशल) भी हो गये और उन्हें सारा जगत् जानने और मानने भी लगा। वे संसार को रिझाने के लिये गढ़-गढ़ कर शोभामयी (मीठी-मीठी) बातें भी कहना सीख गये तो भी क्या? यदि उन्होंने बहुत से कर्म किये, यज्ञ किये और दान दिये तो क्या? अरे! दान दे-देकर भोगों के उच्च फल पा गये और ऊँचे-ऊँचे लोकों (स्वर्ग आदि) में भी चले गये, तो इससे भी क्या हुआ?

इतना सब होने पर भी वह व्यक्ति जो श्रीव्यासनंदन नाम को विश्वास पूर्वक नहीं रटता है, सदा ही भव (आवागमन) के प्रवाह में पड़ा रहेगा। वह कभी भी उस भव-प्रवाह से नहीं छूट सकता जब तक कि प्रतीति (विश्वास) और प्रीति (प्रेम) से श्रीव्यासनन्दन नाम को नहीं रटेगा।

टिप्पणी–

बड़े विज्ञ और कर्म-काण्डी होने पर भी यदि श्रीहरिवंश नाम की प्रतीति नहीं है तो यज्ञ, दान, जप, तप आदि करने पर भी भव प्रवाह से छुटकारा नहीं। स्वर्ग तो बहुत ही तुच्छ है, वहाँ जाकर वापस आना ही पड़ता है। ऐसी नगण्य स्थिति को जो वेद-वादी सर्वश्रेष्ठ समझते हैं, उनको शास्त्रों ने बालिश कहा है। गीता कहती है–

ते तं भुक्तवा स्वर्ग लोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति।

अर्थात् वे पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग लोकों के विशाल भोगों को भोग कर अन्त में पुण्यों के क्षीण होने पर पुनः इसी मृत्य लोक को प्राप्त होते हैं।

अतएव नित्य विहार श्रीवृन्दावन-रस-विलास के दाता श्रीहरिवंश नाम के समक्ष ये सब स्वर्ग भोगादि अत्यन्त तुच्छ हैं।

वेद पुराण पढ़कर विज्ञ हो जाना, वाक् पटु हो जाना, सुन्दर वचन रचना से सबका रञ्जन करना, यज्ञ दानादि से देव लोक में जाना इत्यादि सब भोगों के दाता हैं। इनसे प्रेम नहीं मिल सकता। महात्माओं ने कहा है-

पोथी पढ़ि पंडित हुआ कै मौलवी कुरान।
जु पै प्रेम जाना नहीं कहा किया रसखान॥

इसी तरह श्रीमद् शंकराचार्य पाद ने कहा है-

वाग्वैखरी शब्द झरी पटु व्याख्यान कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषानां वै भुक्तये न तु मुक्तये॥

अर्थात्- "वाणी रचना का चातुर्य, शब्दों की झड़ी लगा देना, और व्याख्यान-कौशल की पटुता, ये सब विद्वानों की विद्वत्तामात्र है और कुछ नहीं। इनसे भोगों की प्राप्ति तो हो सकती है पर मोक्ष नहीं मिल सकता।"

लोक-प्रतिष्ठा, पाण्डित्य, शूरवीरता, कला-कौशल, पुण्य-दान, कर्म-काण्ड, यज्ञ-यागादि और इस प्रकार के अन्यान्य धर्म सबके सब लौकिक और पारलौकिक भोगों के दाता हैं मोक्ष या भक्ति के नहीं। दूसरे शब्दों में ये भव-प्रवाह में डालने वाले हैं; इसीलिये सेवक जी ने कहा है-

पर्‍यौ प्रवाह काल के कदापि छूटि है नहीं,
श्रीव्यासनंदन नाम जो प्रतीति सौं न रट्टहीं।

भाव यह कि केवल श्रीहरिवंश नाम ही भव-प्रवाह से उबार कर प्रेम का दान करने वाला है; क्योंकि-

प्रेम मूल यह नाम है।

इसीलिये यह नाम अलभ्य लाभ भी है। अतएव शुभ-नाम भी है–

श्रीहरिवंश चंद्र सुभ नाम, सब सुख सिंधु प्रेम रस धाम।
नाम सुदृढ़ भव तरन कौं।

इसके प्रमाण में साक्षी रूप से श्रीसेवक जी ने स्वयं ही कहा है–

श्रीहरिवंश प्रताप नाम नौका निजु-खेवक।
नव सागर सुख तरत निकट हरिवंश जु सेवक॥

और इसीलिये–

हरिवंश भरोसे भये निडर सु नित गरजत हरिवंश बल।

इसी प्रकार और भी–

करुना सिंधु कृपाल काल भय सब हरी।

तात्पर्य यह कि श्रीहरिवंश नाम भवसागर के प्रवाह से मुक्त करने वाला है और साथ ही साथ पञ्चम-पुरुषार्थ प्रेम-तत्व का प्रदान करने वाला भी।

जो लोग इस श्रीहरिवंश नाम का ही केवल आश्रय लेते हैं वे ही भव प्रवाह से छूटते हैं अन्य नहीं। इस आशय को समझाने के लिये 'कदापि' शब्द का प्रयोग इस छन्द में किया गया है।

अस्तु; श्रीहरिवंश चन्द्र मुक्ति दाता और प्रेम दाता भी हैं इनके बिना प्रेम-विहार सम्भव ही नहीं। श्रीकिशोरी अलि जी ने कहा है–

हित बिनु कैसौ विपिन-विहार।
हित राजत प्यारी पिय के हिय, हित ही सकल सुखन आधार॥
हित ही सौं शृंगार करावत, हित ही भूषन-वसन अपार।
छिन-छिन चोज होत हित ही के, जुगल खिलौना हित खिलवार॥

हित की सेज विराजत दोऊ, हित कौ नवल निकुंज अगार।
हित सौं फूलि रही तरु वेली, सुक कोकिल गावत हित सार॥
यमुना पुलिन रास रचनादिक, फैलि रह्यौ हित कौ विस्तार।
श्रीवन में हित व्यापि रह्यौ है, हित सौं हित ही कौ व्यौहार॥
सोई प्रगट भयौ हित हरि कौ, सकल जगत कीनौ उद्धार।
हित हरिवंश नाम के ऊपर, अली किसोरी बलि बलिहार॥

इस प्रकार महात्मा-गणों के द्वारा यह बात बहुत स्पष्ट की जा चुकी है कि श्रीहरिवंश चन्द्र प्रेम के स्वरूप हैं और प्रेम के प्रदाता। इनके पावन नाम स्मरण से युगल किशोर का श्रीवृन्दावन-विहार अर्थात् नित्य-केलि प्राप्त होती है। इसके प्रमाण में श्रीसेवकजी ने तथा अन्यान्य महात्माओं ने अनेकों वाक्य कहे हैं, उनमें से कुछ वाक्य नीचे लिखे जाते हैं-

(१) श्री हरिवंश धर्म निर्वहै।
श्रीहरिवंश प्रेम रस लहै॥
(२) देत सहज निश्चल भगति जै जै श्रीहरिवंश।
(३) नित श्री हरिवंश सुनाम कहैं,
नित राधिका स्याम प्रसन्न रहैं
जब राधिका स्याम प्रसन्न भये,
तब नित्य समीप सु खैंच लये।
(४) अद्भुत विहार हरिवंश हित निरखि दास सेवक जियत।
(५) श्रीहरिवंश गिरा रस सागर माँझ मगन्न सबै निधि पाई।
(६) श्रीहरिवंश के नाम प्रताप कौ लाभ लह्यौ सो कह्यौ-नहिं जाई।
अतएव-
जौ हरिवंश तजौं भजौं औरहिं तौ मोहिं श्रीहरिवंश-दुहाई॥

(७) पढ़त गुनत गुन नाम सदा सत संगति पावै।
अरु बाढ़ै रस रीति विमल बानी गुन गावै।।
प्रेम लक्षणा भक्ति सदा आनँद हितकारी।
श्रीराधा जुग चरन प्रीति उपजै अति भारी।।
निजु महल टहल नव कुंज में नित सेवक सेवा करनं।
निसिदिन समीप संतत रहै श्रीहरिवंश चरन सरनं।।

(८) जै जै श्रीहरिवंश नाम गुन जो नर गाइहै।
प्रेम लक्षणा भक्ति सुदृढ़ करि पाइहै।।
अरु बाढ़ै रस रीति प्रीति चित ना टरै।
जीति विषम संसार कीरति जग बिस्तरै।।
बिस्तरै सब जग विमल कीरति साधु संगति ना टरै।
बास बृंदा विपिन पावै श्रीराधिकाजू कृपा करै।।
चतुर जुगल किसोर सेवक दिन प्रसादहि पाइ है।
जै जै श्रीहरिवंश नाम गुन जो नर गाइहै।।

(९) हरिवंश नाम जे कहैं अनंत सुक्ख ते लहैं।
दुरापि प्रेम की दसा तहाँ प्रतच्छ देखिये।।

इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि श्रीहित हरिवंश चन्द्र का नाम मोक्ष-सुख से भी परे दिव्य-प्रेममय नित्य विहार को प्रदान करने वाला है। जो ऐसा जानकर इस नाम की शरण लेते और फिर आराधन करते हैं; वही सुदृढ़ भव (अर्थात् लोक एवँ लोकान्तरों के आवागमन, जन्म-मरण आदि) से छूट कर नित्य किशोर श्रीराधावल्लभलाल के अत्यन्त निकट होकर श्रीवृन्दावन धाम में प्रेम केलि का सुख आस्वादन करते हैं। इनके सिवाय शेष सभी काल प्रवाह में पड़े हैं, जैसा कि श्रीध्रुवदास जी ने कहा है—

हित ध्रुव और सुख देखियत जहाँ लगि,
सुनियत तहाँ लगि सबै दुख पासि हैं।

श्रीरसखानजी के मत से तो प्रेमी ही मरकर सच्चा जीवन पाता है और शेष सब जीते हुए भी मरे से हैं–

प्रेम फाँसि में फँसि मरै सोई जियै सदाहि।
प्रेम मरम जानै बिना मरि कोऊ जीवत नाहिं।।

अतएव नित्य जीवन पाने के लिये प्रेम नाम श्रीहरिवंश का आश्रय लेना चाहिये।

।। जै जै श्रीहरिवंश ।।

श्रीहित अबोलनौं

(षोडश प्रकरण)

पूर्व परिचय–

'अबोलनौं' का अर्थ है 'न बोलना' इस न बोलने की स्थिति का सङ्केत मान से है। कभी–कभी क्रीड़ा–विलास में युगल किशोर के बीच में ऐसी स्थिति आ प्राप्त होती है, जहाँ श्रीप्रियाजी सब कुछ भूल कर चुप हो रहती हैं, किन्तु प्रेम–आशंका वश श्रीलालजी उसे 'मान' समझ बैठते हैं। सेवक जी के मत से यह 'मान' 'प्रकट प्रेम रस सार' है। यह प्रेम रससार कुञ्जान्तर मान नहीं, रूठना नहीं, क्रोध नहीं, घृणा नहीं और न सौतिया डाह जैसी कोई स्थिति ही है। यह है प्रेमाधिक्य का विलास। जब श्रीप्रियाजी अपने प्रियतम श्रीलाल जी के प्रेमाधिक्य से अपनी सुधि–बुधि खो बैठती, मौन हो जाती हैं तब श्रीलाल जी उनकी इस स्थिति को अपनी प्रेम–सम्भ्रम बुद्धि से 'मान' समझ बैठते हैं, क्योंकि वे भी तो प्रेम–परवश होने के कारण अपनी बुद्धि खो बैठते हैं, अतएव वे श्रीप्रियाजी को मनाने लगते हैं।

इस रहस्य को सर्वज्ञ हित सखी खूब समझती हैं, इसलिये श्रीप्रियाजी को वस्तु स्थिति समझाने की कोशिश करती हैं, ताकि मान जैसी स्थिति छूट जाय और दोनों पक्षों में रस की धारा बह चले।

अन्तत: ऐसा ही होता है। इस अबोलनौ के नित्य–मिलन प्रसंग में प्रेम–विलास की अनिर्वचनीयता की जो अन्तिम–स्थिति दिखायी गयी है, उससे महाप्रभु श्रीहित हरिवंशचन्द्र के प्रेममय नित्य–विहार रस का कुछ अनुमान हो जाता है। अब प्रथम दोहे में यह बताना चाहते हैं कि महाप्रभु पाद की वाणी में किस प्रकार मान सम्भव हो सका?

मूल– (१)

बानी श्रीहरिवंश की, सुनहु रसिक चित लाइ।
जेहि विधि भयौ अबोलनौं, सो सब कहौं समुझाइ॥

भावार्थ–

हे रसिकों! श्रीहरिवंश की वाणी (श्रीहित चौरासी, राधा-सुधा निधि आदि) में 'अबोलनौं' (मौन या मान) जिस प्रकार से हुआ मैं वह सब समझा कर कहता हूँ, उसे चित्त लगाकर सुनो।

मूल– (२)

श्री हरिवंश जु कथि कही, सोरु सुनाऊँ गाइ।
बानी श्रीहरिवंश की, नित मन रही समाइ॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश चन्द्र ने अपने कथन में (अपने शब्दों में) जो कुछ कहा है, वही (मानादि) वर्णन करके मैं आपको सुनाऊँगा, क्योंकि श्रीहरिवंश की वाणी निरन्तर मेरे मन में समाई हुई है।

मूल– (३)

श्रीहरिवंश अबोलनौं, प्रगट प्रेम-रस-सार।
अपनी बुद्धि न कछु कहौं, सो बानी उच्चार॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश चन्द्र के द्वारा वर्णन किया गया अबोलनौं (मौन) प्रकट रूप से प्रेम रस का सार है, मैं उस विषय में अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहता वरं जैसा कुछ श्रीहरिवंश की वाणी में कहा गया है उनका उच्चारण है, (मैं उन्हीं के शब्दों में कहता हूँ।)

टिप्पणी–

"श्रीहरिवंश अबोलनौं प्रगट प्रेम रस सार"–

श्रीहरिवंश चन्द्र ने अपनी वाणियों में जिस मान का वर्णन किया है, वह स्थूल मान न होकर प्रेम रस का सार स्वरूप है। यह प्रेम रस की सार वाली स्थिति अनिर्वचनीय है। जहाँ मन, बुद्धि और वाणी आदि की गति रुक जाती है। क्योंकि यह स्थिति प्रेम की शान्त-(हलचल रहित) स्थिति है। रसिक महात्माओं ने बताया है कि विहार रस में प्रेम की दो स्थितियाँ हैं- (१) शान्त और (२) तरङ्गायमान्। तरङ्गायमान् दशा विलास मय है। शान्त दशा मुग्धता और प्रेम वैचित्य की है, जिसमें युगल किशोर को अपने तन, मन और प्राणों की भी सुधि नहीं है। न तो श्रीप्रिया जी अपने आप को प्रिया जानती हैं और न लालजी अपने लालजी होने का बोध रखते हैं; दोनों एक दूसरे के प्रति तन्मय हो जाते हैं-

श्याम कहत हौं ही प्रिया, प्रिया कहति हौं पीय।

यह प्रेम-वैचित्य की दशा वास्तव में वर्णन का विषय नहीं है। इसे तो केवल वही दोनों प्रेमी जानते, अनुभव करते हैं, पर प्रकट तो वह भी नहीं कर सकते। बस यही श्रीहरिवंश के द्वारा वर्णन किया हुआ मान किंवा "प्रगट प्रेम-रस सार" है। जिसका वर्णन अनेक रूपकों में हित चौरासी के स्थल-स्थल पर है।

मूल- (४)

श्रीहरिवंश जु क्रीडहीं, दंपति रस समतूल।
सहज समीप अबोलनौं, करत जु आनँद मूल॥

भावार्थ-

श्रीहित हरिवंश चन्द्र स्वयमेव प्रेम रस समतुल्य दंपति के रूप में क्रीड़ा करते हैं और उस क्रीड़ा के मध्य सहज रूप से जो अबोलनौं (मौन की स्थिति) आ उपस्थित होती है वह आनन्द का मूल है। अर्थात् उससे रसानन्द की निष्पत्ति होती है।

टिप्पणी– "दंपति रस समतूल"–

युगल सरकार श्रीराधा मुरलीधर एक प्रेम की ही दो प्रतिमाएँ हैं–

रूप बेलि प्यारी बनी, प्रियतम प्रेम तमाल।
दोउ मन मिलि एकै भये, श्रीराधावल्लभ लाल।।

जो श्रीराधा हैं वही श्रीकृष्ण हैं और जो श्रीकृष्ण हैं वही श्रीराधा हैं। ये दो होकर भी जब एक हैं तो इनकी प्रत्येक बात समतुल्य (बराबर) होना स्वाभाविक है। इनका रूप, रस, शृङ्गार, हाव–भाव, गुण, विलास, वैभव, प्रेम, चातुर्य आदि बातें सब कुछ एक सी हैं।

दोनों रस की मूर्ति हैं। दोनों नायक हैं और दोनों नायिका। दोनों के हृदयों में केवल एक रस ही क्रीड़ा करता रहता है। दोनों की रस–सम–तुल्य स्थिति का परिचय श्रीभगवत रसिकजी ने इस प्रकार से दिया है–

परस्पर दोउ चकोर दोउ चंदा।
दोउ चातक दोउ स्वाति दोऊ घन दोऊ दामिनी अमंदा।।
दोउ अरविंद दोऊ अलि लंपट दोऊ लोहा दोउ चुंबक।
दोउ आसिक महबूब दोउ मिलि जुरे जुराफा अंबक।।
दोउ मुदार दोउ मोर दोऊ मृग दोउ राग रस भीने।
दोउ मनि विसद दोउ वर पन्नग दोऊ वारि दोऊ मीने।।
भगवत रसिक विहारिनि प्यारी रसिक विहारी प्यारे।
दोउ मुख देखि जियत अधरामृत पियत होत नहिं न्यारे।।

(५)

मानवती प्रिया से सखी ने कहा–

मूल–

काहे कौं डारति भामिनी, हौं जु कहत इक बात।
नैंकु बदन सनमुख करौ, छिन छिन कलप सिरात।।५।।

भावार्थ–

सखी ने कहा–हे भामिनि! मैं जो एक बात तुमसे कह रही हूँ, उसे क्यों टाल रही हो? तनिक तो अपना श्रीमुख इनके सम्मुख करो। देखो, (श्रीलालजी का) एक-एक क्षण कल्प की भाँति बीत रहा है।

मूल– (६)

वे चितवत तुव बदन बिधु, तू निज चरन निहारति।
वे मृदु चिबुक प्रलोवहीं, तू कर सौं कर टारति॥

वे तो तुम्हारे मुख-चन्द्र को ही (चकोर वत्) देख रहे हैं और तुम अपने चरणों की ओर (दृष्टि नीची किये) निहार रही हो। वे तुम्हारे कोमल चिबुक को प्रेम पूर्वक सहलाते हैं और तुम (अनादर पूर्वक) उनके हाथ को अपने हाथों से टाल देती–झटक देती हो।

मूल– (७)

बचन अधीन सदा रहै, रूप समुद्र अगाध।
प्रान-रवन सौं कत करति, बिनु आगस अपराध॥

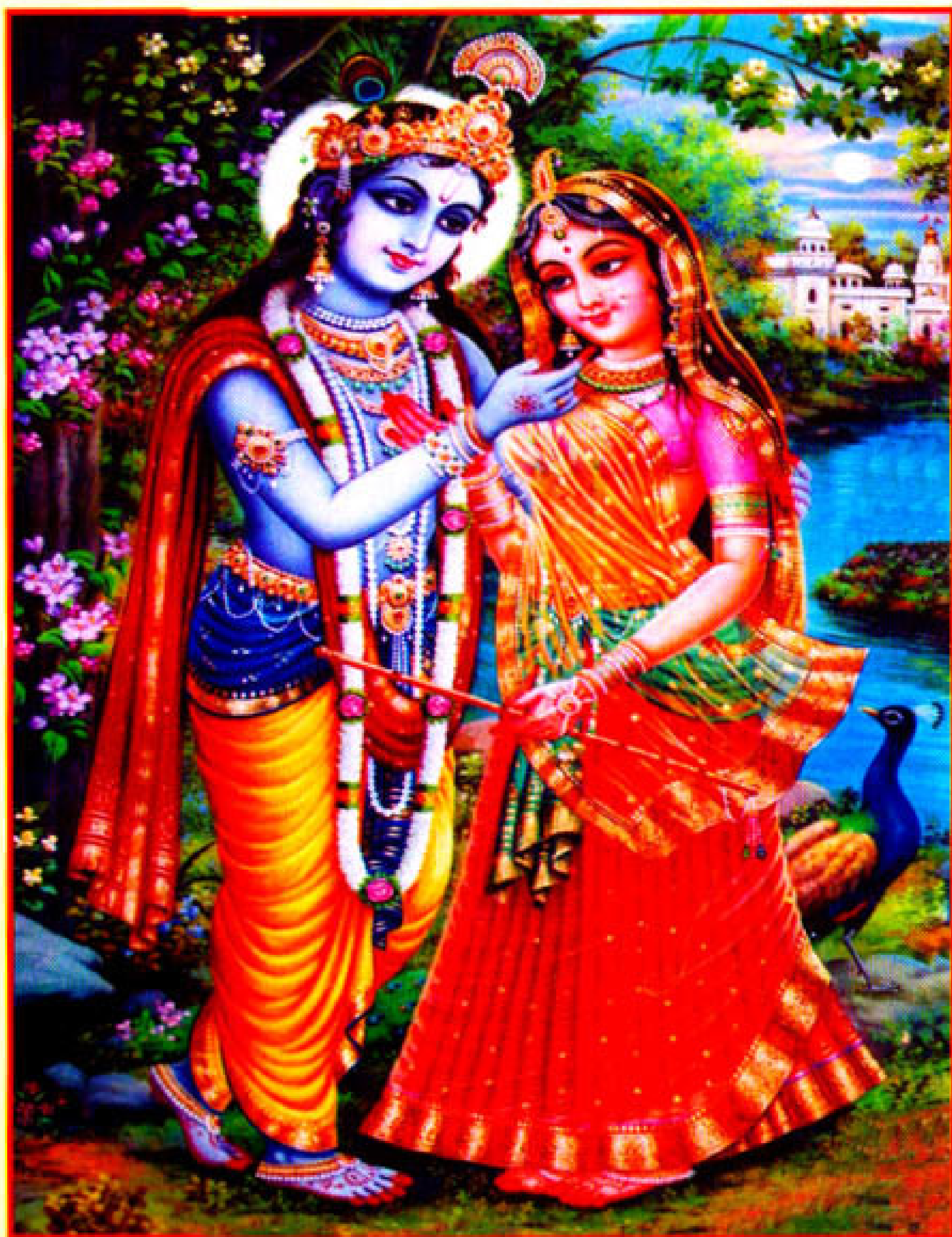
भावार्थ–

रूप के अगाध-समुद्र ये श्रीलाल जी सदा ही तुम्हारे वचनों के अधीन रहे आते हैं। इस प्रकार सदा अपने ही अनुकूल रहने वाले प्राण-रमण से तुम अकारण (बिना किसी अपराध के) ही क्रोध या मान क्यों करती हो? (एक दृष्टि से तो यह तुम्हारा मान भी उनके प्रति अपराध ही है।)

(८)

सखी के वचनों की यथार्थता को समझ कर श्रीप्रियाजी का मान छूट गया, अथवा उनकी प्रेम-वैचित्य स्थिति सावधानी के रूप में परिणत हो गयी–

वे मृदु चिबुक प्रलोवहीं, तू कर सौं कर टारति।।



मूल–

चितयौ कृपा करि भामिनी, लीने कंठ लगाइ।
सुख सागर पूरित भये, देखत हियौ सिराइ॥

भावार्थ–

(श्रीहित सखी के वचनों को सुनकर) भामिनि (श्रीप्रियाजी) ने मान का त्याग करके (श्रीलालजी की ओर प्रेम पूर्ण दृष्टि से देखा और) उन्होंने अपने प्रियतम को गले लगा लिया, जिससे (दोनों के मिलते ही मानो) दो सुख–समुद्र पूर्ण होकर छलक उठे, जिसे देखकर (श्रीहित अलि का) हृदय शीतल हो गया।

टिप्पणी– "सुख सागर पूरित भये"–

प्रेम का स्वभाव है कि वह दो को एक किया करता है। इस सिद्धान्त से यहाँ दो प्रेमी अपने तन, तन, प्राणों के सारे व्यवधानों को दूर करके एक हो गये। उनकी साधें पूर्ण हो गयीं। श्रीप्रियाजी और प्रियतम श्रीलालजी ही दो सुख–समुद्र हैं। आज दोनों अपनी मर्य्यादाएँ तोड़ कर एक हो गये।

एक तो नित्य मिलन श्रृङ्गार में मान है ही नहीं और यदि कदाचित् महानुभावों ने माना भी है, तो केवल रस एवँ प्रेम की वृद्धि के लिये, उद्दीपन रूप में। यद्यपि मान के समय नायिका रूसी सी रहती है पर उसके हृदय में नायक के लिये अपार प्रीति रहती है। या यों कहें कि यह मान प्रेम–समुद्र की शान्त स्थिति है, मान छूटते ही प्रेम–सागर उद्वेलित हो उठता है। फिर उस प्रेम–उद्वेलन में भय, शंका, क्रोध, हठ आदि कुछ भी नहीं रह जाते। दोनों ओर एक अनन्त सुखमय प्रेम ही प्रेम छा जाता है।

इस दोहे में जहाँ वर्णन है कि जब श्रीप्रियाजी ने श्रीलालजी को प्यार पूर्वक अपने हृदय से लगा लिया, मानो दोनों के हृदय–समुद्र

सुख की हिलोरें लेने लग गये; वहाँ यह भी जानना चाहिये कि यह मिलन ही रस-शृंगार की पराकाष्ठा-हद है। रस की इस अनुभूति-

रस की अवधि इहाँ लौं माई।
विवि तन मन एकै ह्वै जाई॥

के पश्चात् न तो कुछ ज्ञातव्य है और न कथितव्य। बस, केवल अनुभव्य है जिसे अनन्य रसिक जन ही अनुभव करते हैं। यही सुख सागर का पूरित होना है।

(९)

श्रीसेवकजी ने इस अन्तिम दोहे में केवल प्रकरण का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए प्रेमी साधकों के लिये सार रूप एक नाम की शरण ही ग्रहण करने का साङ्केतिक उपदेश दिया है-

मूल-

सेवक सरन सदा रहै, अनत नहीं विश्राम।
बानी श्री हरिवंश की, कै हरिवंशहिं नाम॥

भावार्थ-

सेवकजी कहते हैं कि 'यह' सेवक तो सदैव इन्हीं श्रीहरिवंश की शरण में रहता है, उसे तो अब अन्यत्र कहीं शान्ति (विश्राम) ही नहीं है। एक तो श्रीहरिवंश की वाणी अथवा दूसरे श्रीहरिवंश का नाम, इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं शान्ति (विश्राम) नहीं है।

टिप्पणी-

इस दोहे में श्रीसेवकजी ने बताया है कि मेरे लिये अथवा सम्पूर्ण हित धर्मियों के लिये भी संसार-सागर से पार होने के लिये किंवा प्रेम-तत्त्व (नित्य-विहार-रस) के प्राप्त करने के लिये बस दो ही साधन हैं एक तो श्रीहरिवंश की वाणी और दूसरा श्रीहरिवंश का नाम। इन दो के सिवाय अन्यत्र कहीं कोई शान्ति और आनन्द दायक साधन है ही नहीं, अतएव मेरा समस्त साधनों पर विश्वास ही नहीं रह गया-

साधन विविध सकाम मत–
सब स्वारथ सकल सबै जु अनीति।
ज्ञान ध्यान व्रत कर्म जिते सब
काहू में नहिं मोहि प्रतीति।।

वेद–शास्त्रों में परमार्थ–प्राप्ति के अनेकों साधन हैं और अपने–अपने स्थानों पर वे सभी उचित हैं तथापि हित धर्मी के लिये तो इतना ही है कि–

बानी श्री हरिवंश की, कै हरिवंशहिं नाम।

इसका कारण बहुत स्पष्ट है कि हित–धर्मी को श्रीहरिवंश की वाणी अथवा नाम से जिस प्रेम या रस की प्राप्ति हो सकती है, अन्य प्रकार से कदापि नहीं हो सकती।

सेवक जी के इस ग्रन्थ 'सेवक–वाणी' में आद्यन्त श्रीहरिवंश धर्म और श्रीहरिवंश नाम का ही निरूपण, पोषण और विश्लेषण है। विज्ञ जनों को इसके प्रणयन से पता चलेगा कि इस ग्रन्थ के सिद्धान्त पक्ष को सेवक जी ने अपने अनुभव के साथ मिलाकर और भी महत्त्व प्रद बना दिया है। यह उनकी अनुभव पूर्ण वाणी है जिसमें एक ही वस्तु का आदि से अन्त तक निरूपण है। निरूपित वस्तु है–

बानी श्रीहरिवंश की कै हरिवंशहिं नाम।

इस समर्थन के द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि हित धर्मी के लिये बस केवल इतना ही सार तत्व ग्रहणीय है। इस ग्रन्थ के तीसरे और चौथे प्रकरण तो केवल नाम–प्रताप और वाणी–प्रताप को ही बखानते हैं। देखिये–

तब सुक्ख हरिवंश गुन नाम रसना रटत,
और बहु बचन अति दुक्ख दानी।

हानि हरिवंश के नाम अंतर परे
लाभ हरिवंश उच्चरत बानी।।

जिस प्रकार श्रीहरिवंश का नाम श्रीहरिवंश स्वरूप है उसी प्रकार श्रीहरिवशं की वाणी भी श्रीहरिवंश स्वरूप है। दोनों एक हैं, दोनों में कुछ भेद ही नहीं है–

नाम बानी निकट स्याम स्यामा प्रकट,
रहत निसिदिन परम प्रीति जानी।
नाम बानी सुनत स्याम स्यामा सुबस,
रसद माधुर्य्य अति प्रेम-दानी।।
नाम बानी जहाँ स्याम स्यामा तहाँ,
सुनत गावंत मो मन जु मानी।
बलित सुभ नाम बलि बिसद कीरति जगत,
हौं जु बलि जाऊँ हरिवंश बानी।।

और भी–

बानी श्रीहरिवंश की श्रीहरिवंश स्वरूप।

अस्तु; बरसाना निवासी रसिक महात्मा श्रीहित नागरीदासजी ने भी अपने ग्रन्थों में श्रीहित नाम और वाणी के सम्बन्ध में अपने बड़े ही अमूल्य अवतरणीय हैं। उन्होंने अपने जीवन में युगल किशोर की जो भी कुछ रसानुभूति की वह केवल श्रीहरिवंश नाम और वाणी के प्रताप से की। अतएव उनके वाक्य भी यहाँ पुष्ट प्रमाण होंगे।

(१) नाम के सम्बन्ध में–

एकहिं जिय सौं काज है काहै लागै साखि।
श्रीव्यास सुवन कहि जानि है ताही में ललसाखि।।

सूरौ अपने धर्म में पूरौ परिहै काज।
गुननि समूरौ देखिये सूरौ रूरौ साज।।

भाव यह कि नाम की महिमा को केवल मेरा हृदय जानता है मैं प्रमाण के लिये किस तरह की साक्षी दूँ। हाँ जो कोई इस व्यास सुवन नाम से लग जायगा वह अवश्य समझ लेगा, फिर तो वह इसे छोड़ नहीं सकता। जो अपने धर्म (नाम-निष्ठा) में शूर वीर होगा, वही काम पूरा कर सकेगा। वैसे तो नाम अनेकों गुणों का मूल है तथापि वह नाम उस साधक में शूरता और सुन्दरता भी ला देगा।

(२) श्रीहरिवंश-वाणी के सम्बन्ध में-

बानी श्रीहरिवंश की, जौलौं न हिये समाइ।
बाँधे बधिक विहंग ज्यौं, को हाटै हाट बिकाइ।।
जामहिं सबै सँभारि है, सार सुखनि की भीर।
काज सहज हिय आइहै, बानी गुननि गँभीर।।

भाव यह कि श्रीहरिवंश-वाणी को जाने समझे बिना वधिक के द्वारा बंदी किये गये पक्षी के समान बाजार-बाजार बिकना ही है। इस वाणी में सब कुछ साध्य साधन हैं, सारे सुखों का सार समुदाय है, पर वाणी का उचति आश्रय लेने पर ही इसका अनुभव होगा।

श्री हरिवंश विमल वर बानी।
बृंदा विपिन विलास माधुरी, पूरन रसिक अनन्य सुखदानी।।
फूले फिरत मुदित मन रँगमगे, श्रीव्यास-सुवन रसजस के गानी।
नागरी दास रसिक वर सेवत, सुलभ विहारी विहारिन रानी।।

अस्तु जिस प्रकार सेवक जी इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'श्रीहरिवंश चंद्र सुभ नाम' कहकर श्रीहरिवंश के स्वरूप का निरूपण प्रारम्भ करते

हैं, उसी प्रकार ग्रन्थ में स्थान स्थान पर सर्वत्र नाम और वाणी का समर्थन (आवृत्ति) करते हुए अन्त में–

बानी श्रीहरिवंश की, कै हरिबंसहिं नाम।

कहकर ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं। इस तरह सिद्ध है कि 'श्रीसेवक-वाणी' का प्रतिपाद्य विषय श्रीहरिवंश नाम ही है।

समस्त कोविद शिरोमणि श्री दामोदर जी 'सेवक' ने श्रीहरिवंश नाम क्या चुना; मानों हीरों की खानि में से अमूल्य चिन्तामणि लेकर शेष हीरों को छोड़ दिया, क्योंकि यह–श्रीहरिवंश नाम ही सर्वसार और नित्य-विहार स्वरूप है। श्रीहित ध्रुवदास जी ने कहा है–

प्रथम नाम हरिवंश हित रटि रसना दिन रैंन।
प्रीति रीति तब पाइये अरु वृंदावन ऐंन॥

और

हरिवंश नाम ध्रुव कहत ही बाढ़ै आनँद बेलि।
प्रेम रँग उर जगमगै जुगल नवल रस-केलि॥

अतएव प्रत्येक हित-धर्मी के लिये मन, वचन और हृदय पूर्वक एक मात्र सेवन करने योग्य हैं–श्रीहरिवंश।

॥ जै जै श्रीहरिवंश ॥

फल स्तुति

जयति जयति हरिवंश नाम रति सेवक बानी।
परम प्रीति रस रीति रहसि कलि प्रगट बखानी।।
प्रेम संपती धाम सुखद विश्राम धरंमिनि।
भनत गुनत गुन गूढ़ भक्त भ्रम भजत करंमिनि।।
श्रीव्यासनंद अरबिंद चरन मद तासु रंग रस राचहीं।
'श्रीकृष्णदास' हित हेत सौं जे सेवक बानी बाँचहीं।।

—श्रीकृष्णचन्द्र महाप्रभु पाद

सेवक दरसायौ प्रगट हित मग सब सुख सार।
चलैं तिहीं अनुकूल जे पावैं नित्य विहार।।
सेवै श्रीहरिवंश पद सेवक सो ही मान।
और कहै औरहि भजै सो विभिचारी जानि।।
सेवक गिरा प्रमान करि सेवै व्यास कुमार।
सेवक सो ही जानिये और सकल विभिचार।।
सेवक कही सो ही करै परसै नहिं कछु आन।
सेवक सो ही जानिये रसिक अनन्य सुजान।।

— एक महानुभाव

कै हरिवंसहि नाम धाम बृंदावन बस गति।
बानी श्रीहरिवंश सार संच्यौ सेवक मति।।
पठन श्रवन जे करै प्रीति सौं सेवक बानी।
भव निधि दुस्तर जदपि होइ तिहिं गोपद पानी।।
(श्री) व्यासनंद परसाद लहि जुगल रहस दरसै जु उर।
धनि बृंदावन हित रूप बलि सुख विलसैं भावुक धाम धुर।।
ग्रंथ सिंधु तें सोधि रंग कलि माँहि बढ़ायौ।
यह हित कृपा प्रसाद अमी भाजन भरि पायौ।।
रसिक मनौं सुर सभा आनि तिनकौं दरसायौ।
श्री सेवक निज गिरा मोहिनी बाँटि पिवायौ।।
पठन श्रवण निसि दिन करै दंपति सुधाम सुख लहै अलि।
बानी स्वरूप हरिवंश तन भनि बृंदावन हित रूप बलि।

।। जै जै श्रीहरिवंश ।।

(७) पढ़त गुनत गुन नाम सदा सत संगति पावै।
अरु बाढ़ै रस रीति विमल बानी गुन गावै।।
प्रेम लक्षणा भक्ति सदा आनँद हितकारी।
श्रीराधा जुग चरन प्रीति उपजै अति भारी।।
निजु महल टहल नव कुंज में नित सेवक सेवा करनं।
निसिदिन समीप संतत रहै श्रीहरिवंश चरन सरनं।।

(८) जै जै श्रीहरिवंश नाम गुन जो नर गाइहै।
प्रेम लक्षणा भक्ति सुदृढ़ करि पाइहै।।
अरु बाढ़ै रस रीति प्रीति चित ना टरै।
जीति विषम संसार कीरति जग बिस्तरै।।
बिस्तरै सब जग विमल कीरति साधु संगति ना टरै।
बास बृंदा विपिन पावै श्रीराधिकाजू कृपा करै।।
चतुर जुगल किसोर सेवक दिन प्रसादहि पाइ है।
जै जै श्रीहरिवंश नाम गुन जो नर गाइहै।।

(९) हरिवंश नाम जे कहैं अनंत सुक्ख ते लहैं।
दुरापि प्रेम की दसा तहाँ प्रतच्छ देखिये।।

इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि श्रीहित हरिवंश चन्द्र का नाम मोक्ष-सुख से भी परे दिव्य-प्रेममय नित्य विहार को प्रदान करने वाला है। जो ऐसा जानकर इस नाम की शरण लेते और फिर आराधन करते हैं; वही सुदृढ़ भव (अर्थात् लोक एवँ लोकान्तरों के आवागमन, जन्म-मरण आदि) से छूट कर नित्य किशोर श्रीराधावल्लभलाल के अत्यन्त निकट होकर श्रीवृन्दावन धाम में प्रेम केलि का सुख आस्वादन करते हैं। इनके सिवाय शेष सभी काल प्रवाह में पड़े हैं, जैसा कि श्रीध्रुवदास जी ने कहा है–

हित ध्रुव और सुख देखियत जहाँ लगि,
सुनियत तहाँ लगि सबै दुख पासि हैं।

श्रीरसखानजी के मत से तो प्रेमी ही मरकर सच्चा जीवन पाता है और शेष सब जीते हुए भी मरे से हैं–

प्रेम फाँसि में फँसि मरै सोई जियै सदाहि।
प्रेम मरम जानै बिना मरि कोऊ जीवत नाहिं।।

अतएव नित्य जीवन पाने के लिये प्रेम नाम श्रीहरिवंश का आश्रय लेना चाहिये।

।। जै जै श्रीहरिवंश ।।